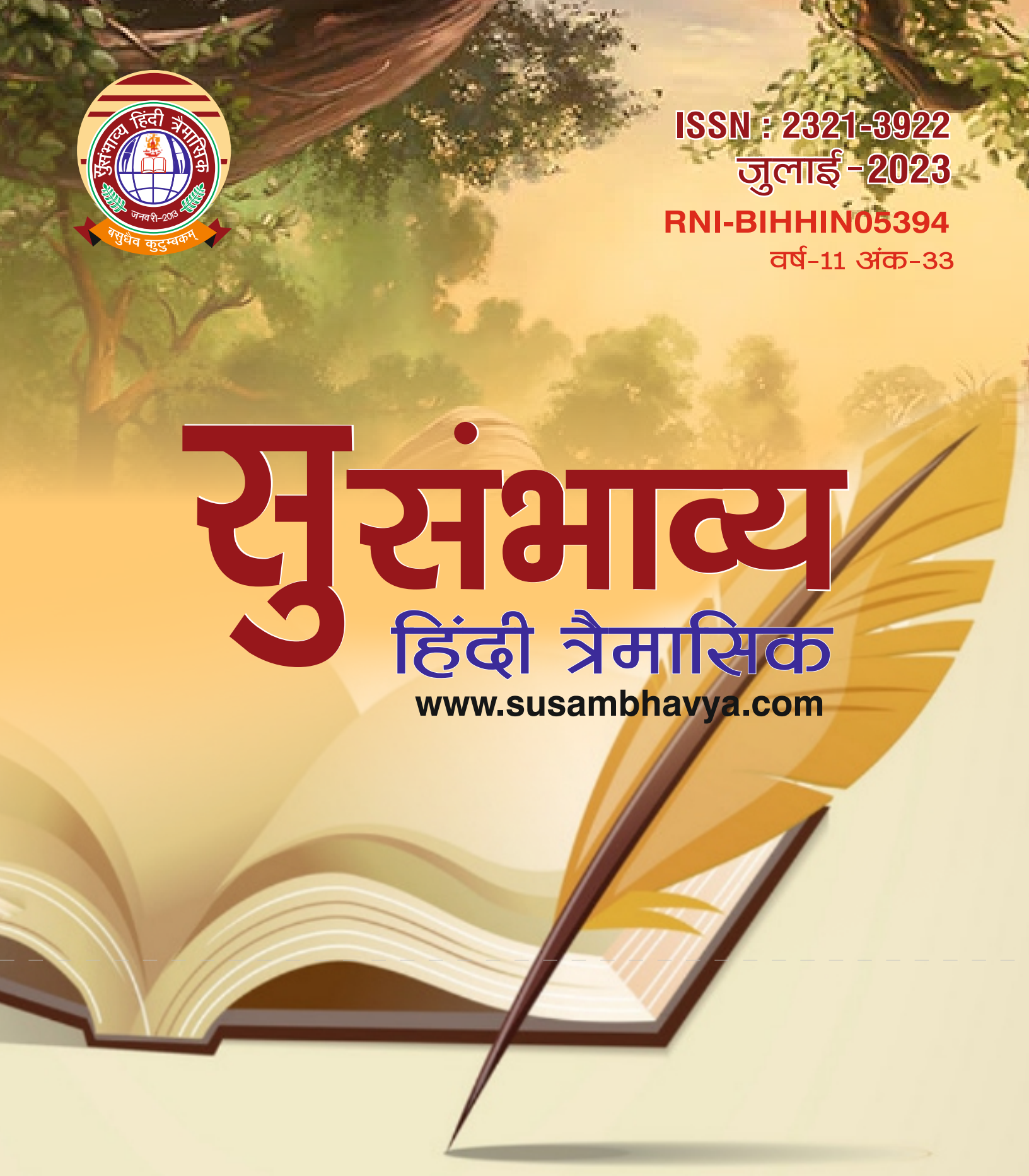

ISSN : 2321-3922
जुलाई -2023
RNI-BIHHIN05394
वर्ष-11 अंक-33

सुसंभाव्य

हिंदी त्रैमासिक

www.susambhavya.com

सृजन एवं समीक्षा के लिए प्रतिबद्ध पत्रिका

सुसंभाव्य

(सृजन एवं समीक्षा के लिए प्रतिबद्ध पत्रिका)

जुलाई-सितम्बर - 2023

प्रकाशन : 27 जनवरी 2013

श्री दयानन्द जायसवाल
संस्थापक–सह–प्रधान संपादक

डॉ. विजय कुमार सिंह
संयोजक

श्रीमती अनिता जायसवाल
संरक्षक

डॉ. गिरिजा शंकर मोदी
सम्पादक मंडल

अश्विनी प्रजावंशी
सम्पादक मंडल

श्रीमती छाया पाण्डेय
संस्थापक सदस्य

श्रीमती संयुक्ता गुप्ता
संस्थापक सदस्य

कार्यालय प्रभारी

बिरजू कुमार
भागलपुर
7004435995

सुमित भारती
कोलकाता
8757689138

सौरभ भारती
दिल्ली
8699170450

स्वत्वाधिकारी व प्रकाशक :

श्री दयानन्द जायसवाल

संपादन, संचालन, प्रबंधन एवं
समस्त व्यवस्था अवैतनिक एवं अव्यावसायिक ।
रचनाओं के लिए रचनाकार स्वयं उत्तरदायी।
समस्त विवादों का न्याय क्षेत्र
भागलपुर।

RNI No. : BIHHIN05394/2015
ISSN - 2321-3922
वर्ष–11, अंक–33

सम्पर्क : श्री दयानन्द जायसवाल

मौर्या जुबिली प्लेस, जीरोमाईल
भागलपुर–813210 (बिहार)
मो० : 09931240303
वेबसाईट : www.susambhavya.com
ई–मेल : dnj.sambhavya@gmail.com

RNI No. : BIHHIN05394/2015
ISSN - 2321-3922
जुलाई-सितम्बर - 2023

सुसंभाव्य

हिंदी त्रैमासिक

वेबसाईट : www.susambhavya.com

आमंत्रण

'सुसंभाव्य' अंतर्राष्ट्रीय स्तर की हिंदी त्रैमासिक है जो वर्तमान समय में विश्व के विभिन्न देशों के पाठक सहित भारत के लगभग सभी शहरों के सहृदयों का स्नेह इस पत्रिका को प्राप्त है।

इसका ई–संस्करण विश्वग्राम के सभी सुधी पाठकों एवं स्नेहीजन के लिए www.susambhavya.com पर सहजता के साथ सुलभ है। मुद्रित संस्करण यथासंभव रचनाकारों, हिंदी के लिए समर्पित संस्था और संस्थानों को उपलब्ध कराया जाता है।

श्रेष्ठ चिंतन सहज–सरल अभिव्यक्ति के माध्यम से जब कोई व्यक्ति सार्वभौम होकर जन–गण में व्याप्त हो जाता है तब वह व्यक्ति से व्यक्तित्व और व्यक्तित्व से संस्थान बन जाता है। ऐसे महान विभूतियों से आग्रह है कि अक्टूबर 2023 अंक में प्रकाशन हेतु अपनी मौलिक, नवीनतम एवं प्रतिनिधि रनचाएं अपने पत्राचार–पता के साथ, कोरियर या डाक से संपादक के पते पर भेजें।

आइये सब मिलकर सामाजिक सरोकार से संबंधित सार्वभौम, सार्वजनीन एवं श्रेष्ठ साहित्य के माध्यम से धर्म–मज़हब, जाति, लिंग, वर्ण, वर्ग और नस्ल–भेद की दीवार हटा दें और सिर्फ इंसान बनें तथा उत्तम ज्ञान एवं श्रेष्ठ आचरण से स्वयं का परिष्कार कर विश्वग्राम का सौभाग्य बनें।

संपादक
सुसंभाव्य हिन्दी त्रैमासिक
E-mail : dnj.sambhavya@gmail.com
Mob.: 9931240303

सम्पर्क : श्री दयानन्द जायसवाल
मौर्या जुबिली प्लेस, जीरोमाईल
भागलपुर–813210 (बिहार)
मो० : 09931240303

नोट : कृपया अपनी रचनाएँ kurtidev -010 में ही ई मेल से भेजें अन्यथा स्वीकृत नहीं होगी।

अनुक्रम

पुरोवाक्	संस्थापक की कलम से	दयानन्द जायसवाल	05
समीक्षा	सांस्कृतिक टूटने से निपजा : नदी बहती रही	मोनिका मंथन	06
दोहे		प्रो० शरद ना० खरे	07
समीक्षा	नुकीली–चुटीली कविताएँ	अरविन्द अवस्थी	08
समीक्षा	वसंत के हरकारे	सुरेन्द्र सिंह कुशवाह	09
समीक्षा	सीमट गए संवाद: यथार्थ से मुठभेड़	वीरेन्द्र परमार	10
कविता	यही है जीवन	मनोरंजन सहाय सक्सेना	11
समीक्षा	हमेशा देर कर देता हूँ मैं	अशोक प्रियदर्शी	12
कविताएँ	आस्था, स्मारक, देश का झंडा	नरेश अग्रवाल	13
समीक्षा	ऋष्य श्रृंग : डा० अमरेन्द्र	अनिल कुमार झा	14
कविता	बाराती	संजय वर्मा 'दृष्टि'	16
समीक्षा	'रुदादे–सफ़र' उपन्यास	सुधा ओम ढींगरा	17
समीक्षा	दो मिसरों में	डॉ० उपमा शर्मा	19
समीक्षा	नौ रुपये बीस पैसे के लिए	सुरेन्द्र प्रजापति	21
लघुकथाएँ	पाप का बँटवारा, स्याह् होते रंग	डॉ० प्रदीप उपध्याय	22
समीक्षा	अंधियारा है यहाँ : ग़ज़ल संग्रह	दयानन्द जायसवाल	23
समीक्षा	भारतीय राष्ट्रवाद का क ख ग	दयानन्द जायसवाल	24
समीक्षा	वन तुलसी की गंध	दयानन्द जायसवाल	25
आलेख	चन्द्रमौली चन्द्रकांत	शैलेन्द्र चौहान	26
कविता	धरती मांग रही	प्रो० जटाधर दूबे	26
आलेख	भागो नहीं दुनिया को बदलो	कृष्ण कुमार यादव	27
लघुकथा	कम्बल	श्याम सुन्दर तिवारी	29
आलेख	भूमण्डलीकरण और हिंदी साहित्य	डॉ० पशुपति नाथ उपाध्याय	30
आलेख	जीवन संघर्ष और संग्राम	राम किशोर सिंह 'विरागी'	33
कविताएँ	जाना भवसागर पार, जाना है उस पार	आलोक भारती	34
कहानी	एक प्रति साम्य	वसंत राघव	35
कहानी	जीवन के राग विराग	अनिता रश्मि	37
परिचर्चा	वीणा एवं साहित्यिक पत्रिकाएँ	अरविन्द ओझा	39
लघुकथाएँ	दरकते रिश्ते, प्रेरणा स्तोत्र	महेश कुमार केशरी	40
आलेख	हिंदी दलित नाटक और रंगमंच	प्रो० डॉ० संजय राठौर	41
कविता	झूमती शाखों के पत्ते	डॉ० महेन्द्र अग्रवाल	42
कहानी (राजस्थानी)	उसकी अपनी दुनिया	पूर्ण शर्मा 'पूरण'	43
आलेख	दिनकर के काव्य में राष्ट्रीयता	डॉ० अवधेश कुमार चन्सौलिया	46
कविताएँ	मतदान मन की करना, मतहीन मतदाता, मौसम हुआ चुनावी	मीनू मीना सिंहा	47
आलेख	बाँग्ला साहित्य और संस्कृति एक वैचारिक दृष्टि	डॉ० अमरनाथ सिंह बधान	48
गीत	सनई के फूल, कविता–सच्चाई की रात	सूर्य प्रकाश मिश्र	49
कहानी	काका जी की कैरियाँ	हरि प्रकाश राठी	50
कविता	होठों पर अब गान नहीं है	मंजरी पाण्डेय	52

एक किरण उम्मीद की

उन्मादों की थी बेदर्दी पीड़ा
जैसे हो मनु की इड़ा
सन्नाटा था जीवन में कहीं
आ गया सफर फिर वहीं
पहाड़ों की ऊँची चोटियों में
फँस गया चित्त लताओं सा
बिलखती–सी आवाज सुनी
करता जिसे हर कोई अनसूनी
लगी वो मुझे कुछ अपनी सी
चंचलता के घेरे में फिर
दिखाई देने लगी अचानक
एक किरण उम्मीद की मुझे
वो आवाज घुटन थी एक
साँसों मे उलझे कुछ स्वर
फूट पड़े मुख विवर से अब
गमों के सागर से निकलकर
दिखने लगी, अब फिर मुझे
एक किरण उम्मीद की।

नीतू कुमारी
झुनझुनु (राज.)

पुरोवाक्

दयानन्द जायसवाल

संस्थापक की कलम से

जिस प्रकार सूर्य की किरणों से जगत में प्रकाश फैलता है, उसी प्रकार साहित्य के अवलोकन से समाज में चेतना का संचार होता है। साहित्य समाज के निर्माण में योग देता है और समाज के द्वारा ही साहित्य का निर्माण होता है। विभिन्न चिंतक, आलोचक एवं लेखक आज इस बात पर एक मंच पर हैं कि वह सरकार एवं नौजवान वर्ग का ध्यान इस ओर आकर्षित करे कि हिन्दी भाषा एवं साहित्य भारतीय संस्कृति का एक अहम हिस्सा है। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के साथ–साथ हिन्दी भाषा एवं साहित्य को पतन की ओर से जाने के लिए मुख्य एवं संकलित रूप में केवल भूमण्डलीकरण को ही जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। निष्पक्षता को साथ ले, तो हम खुद भी इसके लिए उतने ही जिम्मेदार हैं।

आधुनिकीकरण तथा वैश्वीकरण के समकालीन लेखकों की मानसिकता पर भी प्रभाव होता है, जिस कारण आधुनिक रचनाओं में खुलापन है। खुली कविताएँ, छोटी कहानियाँ, लय मुक्त दोहे, उपन्यासों में आ रही कमी, शब्दों में हलकापन यह सभी आधुनिकीकरण की वजह से है। किंतु, भूमण्डलीकरण से समाज के प्रत्येक हिस्सों में इतने बदलाव आये कि सारी दुनिया 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की धारणा पर खरी उतरती नजर आने लगी। भूमण्डलीकरण के कारण हिन्दी साहित्य पर जो असर पड़ा, उसका अंतर जानने हेतु हमें पुरातन हिन्दी साहित्य तथा भूमण्डलीकरण के दौर के साथ–साथ आधुनिक दौर के साहित्य पर भी नजर डालते हुए उनके तुलनात्मक अध्ययन के माध्यम से समझना पड़ेगा। साहित्यकार सदैव ही अपने अनुभव, विवेक एवं कल्पना का समावेश करवा, आदर्शवादिता का सहारा लेते हुए सामाजिक ताने–बाने का चित्रण करता है। साहित्य समाज की बिखरी हुई इकाइयों को एक स्थान पर केन्द्रित कर देता है। अपने अनुभव और लोक दर्शन के आधार पर साहित्यकार अपनी रचना में किसी भी ऐसी बात को नहीं छोड़ता, जो समाज के हित के लिए आवश्यक हो। सत्य तो यह है कि साहित्य में समाज के सौन्दर्य की भाँति ही उसकी कुरूपता का भी सुन्दर रूप में चित्रण किया जाता है। मानव मूल्यों के टूटन और विघटन आज चिंता के विषय बने हुए हैं। जीवन के सभी क्षेत्रों में व्यापक उथल–पुथल मचे हैं। परिवार, समाज, राजनीति इत्यादि सभी जगह मूल्यों का पतन हो रहा है। यह चिंताजनक है। अपसंस्कृति का विस्तार हो रहा है। बाजारवादी अर्थव्यवस्था का प्रभाव बढ़ रहा है। भूमंडलीकरण और भौतिकवादी जीवन–शैली हमारे पारंपरिक अर्जित मूल्यों को तहस–नहस करने में कोई कसर नहीं छोड़ रहे हैं। यदि समाज में किसी भी प्रकार का कोई भी परिवर्तन अथवा बदलाव आता है, तो साहित्यकार उसी प्रकार अपनी लेखनी चलाने को बाध्य हो जाता है। इस प्रकार साहित्य बाजार की आवश्यकता के अनुसार लिखा जाने लगा और छपने भी लगा। परंतु किस लेखन को साहित्य की परिधि में रखना चाहिए और किसे दरकिनार कर देना चाहिए। इस बात पर आलोचना–समीक्षा के क्षेत्र में होड़ लग गयी और सृजनात्मकता, भावात्मक परिपूर्ति, सांस्कृतिक पहचान, रचनात्मक गरिमा, उच्च चिंतन, मनन, ज्ञानवर्धक सामग्री, सामाजिक उत्तरदायित्व, भाषाई स्पष्टता और शैलीगत नवीनता, शोध के नये आयाम आदि कई कसौटियों के आधार पर साहित्य अपनी एक विशिष्ट पहचान बनाया है।

साहित्य जिस व्यक्ति के जीवन को सींचित करता है, रस प्रदान करता है या उसे आनंदमय बनाता है, उसी साहित्य से मानव दूर होता जा रहा है। कारण कि आज व्यक्ति का जीवन भागमभाग हो गया है, साहित्य का सृजन करने और पठन–पाठन करने के लिए हमें पर्याप्त समय चाहिए, किन्तु आज की जो जीवन–शैली है, वह व्यक्ति के समय को छीन लिया है। आज क्षेत्रवाद जिस प्रकार अपना सिर उठा रहा है, वह साहित्यकारों के लिए एक चुनौती है। वह क्षेत्र से ऊपर उठकर साहित्य सृजन करेगा, तभी मानवता के धरातल पर सृजित रचना समाज को दे पायेगा। जब तक हम भारत के उदार संस्कृति को अपनाकर अपनी जीवन–शैली को नहीं अपनाएँगे, तब तक मानव सस्कृति साहित्य का निर्माण संभव नहीं होगा। मनुष्य इतना आत्मकेन्द्रित हो गया है कि उसे अपने स्व–हित से कुछ सोचने–विचारने और समझने का वक्त ही नहीं मिलता। साहित्य, जिसकी उत्पत्ति ही साहित्य भाव यानी समाज के सहित के भाव के साथ हुई थी और सभ्यता के विकास में जिसकी जरूरी भूमिका रही। आज उसकी प्रासंगिकता तक पर प्रश्न उठाये जा रहे हैं। क्या वाकई साहित्य और समाज के रिश्ते इतने जर्जर हो चुके हैं?क्या साहित्य अपनी उपादेयता और प्रासंगिकता खो चुका है या कि साहित्य अपनी सामाजिक जिम्मेदारी से ही कटता जा रहा है ?

आज साहित्य में काफी भटकाव भी दिखाई देता है और लेखन की प्रचलित प्रवृत्तियों में अनुकरण की बातें प्रधान होती जा रही है। लेखक अब ज्यादातर पर प्रसिद्धि पुरस्कार की भावना से लेखन में संलग्न हो रहे हैं और साहित्यिक चिंतन बुद्धि–विलास में नाना प्रकार के भटकावों से गुजरता दिखाई देता है। साहित्य–चिंतन में आत्मचिंतन की प्रधानता होनी चाहिए और सजगता से इसमें आत्मिक प्रवृत्तियों को उत्प्रेरित करने वाले तात्विक तत्वों के विवेचन पर ज्यादा ध्यान दिया जाना चाहिए। स्वछंदतावाद की विचारधारा पुरानी मान्यताओं के स्थान पर नये मूल्यों को स्थापित करने की विचारधारा है। इस विचारधारा का लेखक समाज में चले आ रहे पुराने हो चुके विचारों, मान्यताओं के खिलाफ विद्रोही स्वर को तवज्जो देता है। इस विचारधारा के रचनाकारों के बारे में आलोचकों का मानना है कि ''वह रचना के संदर्भ में बाह्य नियमों की अपेक्षा कवि के व्यक्तित्व को प्रधान मानता है। काव्य प्रयोजनों के रूप में नैतिकता के विरुद्ध आनंद की प्रतिष्ठा करता है। बँधे–बँधाये छन्दों को नकार कर लय और गति पर आधारित छंदों की सर्जना पर बल देता है।

दरअसल कोई भी चीज, चाहे वह परम्परा हो या प्रगतिशील आधुनिकता, शून्य में पैदा नहीं होती। हमारी हर सोच हमारे समाज के ऐतिहासिक रूप से अनिवार्य विकास की एक निश्चित मंजिल की देन होती है। इस प्रकार परम्परा और आधुनिकता या परम्परा और प्रगतिशीलता आपस में कोई घोर विरोधी चीजें नहीं है। गुरुवर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहा करते थे कि परम्परा का शाब्दिक अर्थ है–''एक का दूसरे को दूसरे का तीसरे को दिये जाने वाला क्रम।'' उन्होंने परम्परा और आधुनिकता की हमारे दो पैरों से तुलना की है। चलते समय एक पैर हवा में होता है और दूसरा जमीन पर रखना पड़ता है। जमीन पर टिका पैर परम्परा है और आगे बढ़ने वाला पैर आधुनिकता है। दोनों पैर जमीन पर रखे होंगे, तो हम आगे नहीं बढ़ पायेंगे और दोनों पैर हवा में होंगे, तो भी नहीं चल पायेंगे। इस प्रकार निरन्तरता के अर्थ में देखें, तो नया और पुराना परस्पर सहयोगी प्रक्रियाएँ हैं, लेकिन पुराने को हम ज्यों का त्यों नया नहीं बना सकते। नयी चीज, नये ढाँचे, नये सम्बन्ध, नये मूल्य, नयी जीवन–पद्धतियाँ बनाने के लिए हमें पुराने के अन्दर मौजूद गैर–प्रगतिशील गैर–रचनात्मक एवं जनविरोधी पक्षों को छोड़ना और बदलना पड़ेगा।

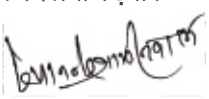

समीक्षा

सांस्कृतिक टूटन से निपजा : नदी बहती रही

मोनिका 'मंथन'
सांगानेर, जयपुर–302033
मो. : 9928029234

''पूंजीपति वर्ग का इतिहास उसी सांस्कृतिक दरिद्रता का इतिहास है। आज हमारे जमाने में वह किन प्रतिमाओं पर गर्व कर सकता है?उसके पास भाँति–भाँति के हिटलरों और बड़प्पन के नशे में चूर दोनों को छोड़कर गर्व करने के लिए कुछ है ही नहीं। पूंजीपति वर्ग संस्कृति का शत्रु है और अब वह शत्रु छोड़ और कुछ हो नहीं सकता। यही सच्चाई है और पूंजीवादी वास्तविकता, पुंजीवादी राज्यों को अमली कार्रवाइयों इसकी गवाही देती है।''
–मक्सिम गोर्की

कोई भी उपन्यास अपने कालखंड की छवियों का पूरा का पूरा लेखा होता है। उपन्यास उस कालखंड के संपूर्ण परिवेश, सुख–दुख, मानवीय संघर्ष और उसकी मानसिक सोच को जानने समझने के लिए एक बहुत सशक्त विधा है। आज समय बहुत तेजी से बदल रहा है। विकास ने अनेक तरह की सुविधाजनक उपकरणों के अन्वेषण के साथ हमारी जिंदगी आसान बना दी है, पर साथ ही साथ उन सभी वस्तुओं का उपयोग कर पाने की लालसा के कारण कुंठा, ईर्ष्या किसी तरह दूसरों से ऊपर उठने की स्पर्धा से भी नवाजा है। अत्याधुनिक तकनीकी के कारण बाजार में नित नये उपकरणों का लोभ युवा के साथ बुजुर्गों को भी आकर्षित करता है। दूसरी तरफ स्त्री की शिक्षा के साथ–ही–साथ उसके कर्मक्षेत्र और दायित्व का दायरा अपेक्षाकृत विस्तृत हो गया है। आज वह अपने बच्चों के भविष्य को अपनी महत्त्वाकांक्षा, अपने स्वप्न, अपनी इच्छा के मुताबिक रचने की कोशिश कर सकती है। यह समय पहले की अपेक्षा अधिक जटिल, संश्लिष्ट है। इस काल का रचनाकार अपने परिवेश के बिल्कुल नये प्रश्नों से नई तरह की आधुनिक समस्याओं से जूझ रहा है और उन प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ने में लगा है, किन्तु इस जटिल समय के प्रश्न भी आज के जीवन की तरह ही मुश्किल है और उसका उत्तर उससे भी ज्यादा उलझे हुए और द्वंद्वों से घिरे हुए हैं।

वर्तमान समय में हमने अपनी चाहतों और कोशिशों को बिल्कुल वैसा ही बना लिया, जैसा कि पूंजीपति चाहते थे। उनको तो जैसे आज होनेवाले भूमंडलीकरण और एकध्रुवीकरण का पूर्वानुमान था ही और वे इसके लिए हमें तैयार कर रहे थे। आज भारत यदि यूरोप याकि अमेरिका नहीं है, तो इसका कारण भी यही है कि यहाँ पर द्रुतगति से विकास नहीं हुआ, नतीजतन यह एक गरीब देश रह गया।

समीक्ष्य उपन्यास सुदेश बत्रा का पहला उपन्यास है। इसमें उन्होंने पूरी निष्ठा से आज के समय की छवियों को पकड़कर इस मौजूदा काल की कुछ ज्वलंत समस्याओं को सुंदर शब्दों एवं भावों में पिरोकर इस दशक के सशक्त उपन्यास के रूप में प्रस्तुत किया है। भविष्य के किसी भी कालखंड में इस उपन्यास को पढ़ने पर आज का पूरा परिवेश सजीव हो उठेगा।

लेखिका ने आज के परिवेश की नगण्य दिखनेवाली किन्तु विचारणीय समस्या को इस उपन्यास का विषय बनाया है। महत्वाकांक्षा, स्टेट्स, ओहदा, लक्जरी जीवन–शैली के लिए आज का मानव लालायित है। एक मध्यम वर्गीय परिवार में अपने बच्चे को बाहर के देशों में भेजने के लिए माता–पिता उत्सुक रहते हैं; क्योंकि अच्छे ओहदों पर माता–पिता दोनों के कार्यरत होने के बावजूद भी ईमानदारी से जीनेवाला व्यक्ति कुछ खास हासिल नहीं कर पाता है। भारत में नौकरी पेशा में रत लोगों की स्थिति को प्रेमचंद ने बड़े ही सुंदर शब्दों में वर्णित किया है–''बाहरी आय बहता हुआ स्रोत है, वेतन तो पूर्णमासी का चाँद है।'' लेकिन उसी चाँद से विदेशों में वे सुविधाएँ आसानी से उपलब्ध हो सकती हैं, ऐसे में आज की युवा पीढ़ी के साथ–साथ अभिभावक भी यहीं चाहते हैं और उसके लिए खूब मेहनत भी करते हैं। इसी उद्देश्य में सफल हो जाने पर दूसरी तरह की अनेक समस्याएँ खड़ी होती हैं। अलग परिवेश में अपने आपको ढालना, अपने को दूर होकर अपनी अलग पहचान बनाना। भारत से दूर रहकर बच्चे तो धीरे–धीरे अपने आपको वहाँ की संस्कृति में ढाल लेते हैं। अपने बच्चों को भारतीय सभ्यता, भाषा, परिवेश की जानकारी देने की असफल कोशिश भी करते हैं, किन्तु बुजुर्ग माता–पिता जीवनभर भारतीय सभ्यता में रहकर विदेशी परिवेश में रम नहीं पाते हैं, वे बड़े चाव से जाते तो हैं अपने बच्चों से मिलने, खूब प्रसन्न भी होते हैं, उनकी बड़ी–बड़ी गाड़ियाँ, बड़े घर, लक्जरी जीवन–शैली को देखकर; किन्तु स्वयं अधिक समय तक देश से दूर रह नहीं पाते हैं। अगर दो में एक बच्चा भारत में हो, तब वह बीच में त्रिशंकु की तरह लटका रहता है, न पूरी तरह यहाँ रह पाता है, न वहाँ ही मन को रमा पाता है। इसी समस्या को लेखिका ने अपने उपन्यास का विषय बनाया है।

इस उपन्यास में एक माँ के पूरे जीवन चरित को दर्शाया है, जिसका पूरा जीवन अपने दोनों बेटों के इर्द–गिर्द घूमता है। नंदिनी आज की एक सशक्त शिक्षित नारी है, जो घर–बाहर दोनों काम देखती हुई बच्चे के भविष्य के लिए सदा चिंतित रहती है। बच्चों की सफलता ही उसके जीवन का ध्येय बन जाता है। पति के अक्सर दौरे पर रहने के कारण बच्चों की पूरी जिम्मेदारी निष्ठा से निभाती हुए वह उनके उज्ज्वल भविष्य के लिए हर संभव प्रयास करने को सदा तत्पर रहती है। उनकी पढ़ाई–लिखाई पर विशेष ध्यान देती है। अपने ऊँचे सपनों को अपने बच्चों के माध्यम से पल्लवित होते हुए देखने की लालसा में उसने पूरा जीवन लगा दिया। ''नंदिनी ने बचपन से बहुत ऊँचे सपने देखे थे, मेहनत से वह कभी नहीं घबराई; लेकिन परिस्थितियाँ ऐसी बनी कि उसके सपनों के रास्ते मुड़ गये। उसको अवसर नहीं मिल पाए, तो उसने अपने सपनों के बीज अपने दोनों बच्चों के मन में रोप दिये।''

उसे मालूम था सिर्फ अपने सपने से कार्यसिद्ध नहीं होता, इसलिए बहुत आरंभ से ही वह बच्चों की पढ़ाई के मामले में काफी सतर्क थी। इसे इन पंक्तियों में देखा जा सकता है। घूमने के लिए निकलते हुए वह बड़े बेटे आनंद से कहती है–''जबतक मैं रसोई साफ करती हूँ, तबतक अपने टेबल सुना दो।'' वह उनकी पढ़ाई में किसी तरह का कोई व्यवधान नहीं चाहती है, क्योंकि उनके माध्यम से ही वे अपने अधूरे सपने को पूरा करना चाहती है। उसके दोनों बच्चे खूब पढ़–लिखकर तरक्की करें और उनका स्टेट्स और ओहदा इतना ऊँचा हो कि उनकी कोई इच्छा दबी न रह जाए। खूब बड़ा घर, समाज में इज्जत, बैंक में ढेर सारे रुपये हों और वे

दिन दुनी रात चौगुनी तरक्की करें। अपनी इस चाहत के लिए उसने अपने जीवन का अधिकांश भाग लगा दिया और वह सफल हुई। किन्तु जब बड़े बेटे को शादी करके अमेरिका भेजने की बात हुई, तो उसका (माँ का) हृदय कातर होने लगा, दिल किसी भी तरह बेटे को इतनी दूर जाने नहीं देना चाहता था; किन्तु उसने मस्तिष्क की सुनी और अपने दिल को मजबूत करके उसे भेज दिया। मन–ही–मन कहा उसने, ''जा बेटा! मैं तुझे संसार के सागर में तैरने के लिए भेज रही हूँ, जहाँ तेरा हौसला, विवेक और आत्मविश्वास ही तेरे साथ रहेगा।'' बेटे ने वहीं घर बसा लिया और सब सुख–सुविधाएँ हासिल कर ली। माँ उसकी तरक्की पर खूब प्रसन्न होती, पर बेटे से दूर रहना, उसे अंदर–अंदर आहत करता।

छोटा बेटा भी माँ की कोशिश और अपनी मेहनत से तरक्की के पथ पर अग्रसर होने लगा; किन्तु अमेरिका न जा सका। वह यहाँ बहुत सफल था; किन्तु माँ को लगता कहीं–न–कहीं अमेरिका न जा पाने का मलाल उसके मन में है। उसके भारत में होने से माँ को सहारा तो था; किन्तु वह दो भागों में बँटकर रह गई। यहाँ रहती तो बड़े बेटे से दूर हो जाती, वहाँ जाती तो छोटे बेटे की याद परेशान करती। तभी वह कहती है–''बेटा! मैं तो दो भागों में बँट गई हूँ, लगता है तुम दोनों भाई मेरी एक–एक बाँह पकड़कर मुझे अपनी–अपनी तरफ खींच रहे हो, मैं न उसे छोड़ सकती हूँ, न तुम्हें।'' माँ की इसी मानसिक पीड़ा को लेखिका ने अपनी रचना में उजागर किया है। जीवनभर जिस चीज के पीछे वह भागती रही, उसे पा लेने पर अनेक दूसरी तरह की समस्याओं से वह घिर जाती है, किन्तु वह कभी भी मन की उदासी को किसी पर प्रकट नहीं करती। हर परिस्थिति में अपने को खुश रखने का प्रयत्न करती और बेटों की तरक्की की कामना करती। अकेलेपन की पीड़ा को भोगती हुई भी उसके दंश को अपने आपसे भी छुपाकर मन को प्रसन्न रखने के नित नये उपक्रम तलाशती रहती।

अंतिम यात्रा पर जाते वक्त भी उसने बेटों को सान्त्वना देते हुए कहा–''तुम दोनों इस दूरी से घबड़ना नहीं। मैं तुम दोनों के साथ रहूँगी। मैं तुम दोनों के खून में बहती हुई अंत:सलिला हूँ।'' उपन्यास के अंतिम शब्द ये दर्शाते हैं कि आज समाज में नारी की अहमियत क्या है? माँ किस तरह अपने संघर्षों को छिपाकर बच्चे के भविष्य के लिए कुछ भी करने को तत्पर रहती है। दीप की भाँति जलकर भी वह अपने बच्चों को पथ प्रशस्त करने में अपना पूरा जीवन होम कर सकती है। अपने निजी सुख–दु:ख का उसके जीवन में कोई खास मायने नहीं रखता, वह बच्चों की खुशी में खुश और गम में गमगीन होती है। इस उपन्यास में मध्यमवर्गीय परिवार के संघर्ष को लेखिका ने बड़े ही सजीव ढंग से उकेरा है, ऐसा लगता है कि वे समस्याएँ उनकी न होकर अपनी ही हो, क्योंकि आज लगभग एक जैसी परेशानी हर घरों में है।

आधुनिकता के सांस्कृतिक मूल्यों में अंतर्निहित विडंबनाओं का रेजा–रेजा उद्घाटन करते हुए अमेरिकी परिवेश में रचना पल्लवित होती है, जिससे पाठक वहाँ की जीवनशैली से परिचित हो सकता है। वहाँ के रहन–सहन में जीते हुए लोग किस तरह अपनी सभ्यता और संस्कृति से जुड़े रहने की कोशिश करते हैं, इसे लेखिका ने बड़े ही रोचक ढंग से चित्रित किया है।

उत्कृष्ट रचनाकार होने के कारण उनकी भाषा बहुत सुंदर और परिमार्जित है। आत्मकथनात्मक रचना होने के कारण पात्र और घटनाएँ काफी जीवंत हैं, जिससे कहीं भी बोझिलता नहीं आ पाती है। रचना में सरल और सहज प्रवाह है। भाषा सौष्ठवपूर्ण होने के बावजूद कहीं भी क्लिष्ट नहीं है। हम कह सकते हैं कि यह उपन्यास सभी के लिए पठनीय है, क्योंकि यह आज के जीवन के संदर्भों को सही मायने में उजागर करता है। इस उपन्यास में कथा चयन और नियोजन का संतुलन देखते ही बनता है। इसकी भाषा इतनी हृदयगामी है, जो सीधे पाठक के हृदय को छू लेती है और पाठक सहज ही इसके साथ बहने लगता है।

'नदी बहती रही' को पढ़ना एक ऐसी मुकम्मल यात्रा से गुजरना है, जहाँ भावनाओं के फूलों से पूरे उपन्यास का सफर तय होता है, जो समय–समय पर आपके मन को भी उद्वेलित करती है और अनुभव की एक ऐसी महक सराबोर करती है कि उससे बाहर निकलने का मन ही नहीं करता। निश्चित तौर पर उपन्यास पठनीय और संग्रहणीय है।

मोनिका प्रकाशन, जयपुर

दोहे

प्रो. डॉ. शरद नारायण खरे,
विभागाध्यक्ष इतिहास शासकीय
जे एम.सी. महाविद्यालय मंडला (म.प्र.)
मो.–9425484382

रहे आचरण निष्कलुष, तो आता मधुमास
अपनाकर पावन चलन, मानव बनता ख़ास

होना अच्छा आचरण, है विशिष्टता रूप
जिससे खिलती चाँदनी, बिखरे उजली धूप

जिनका सँवरा आचरण, वे देते उजियार
द्वेष कपट सब दूर हों, होती तब जयकार

अंतर्मन में नम्रता, अधरों पर मृदु बोल
बिना दोष का आचरण, होता है अनमोल

रीति–नीति हमसे कहें, सदा आचरण नेक
बन अच्छे इंसान तुम, कर सद् से अभिषेक

करके चोखा आचरण, पाओ नव पहचान
सारे दुर्गुण दूर हों, फलीभूत उत्थान

रोज़ आचरण हो सरल, मृदुता से भरपूर
खोंट भरा जो आचरण, वह खो देता नूर

दोष बिना जब आचरण, तब बनती है बात
जब हो ऐसा आचरण, तो होता सौगात।

समीक्षा

नुकीली–चुटीली कविताएँ

अरविंद अवस्थी
मिर्जापुर, उ.प्र. पिन–231001
मो.–9161686444

बैंक में शाखा प्रबंधक के पद से सेवा निवृत्त वरिष्ठ कवि एवं लघुकथाकार श्रीकेदारनाथ सविता का कविता संग्रह 'हथौड़ियों की चोट' हिन्दीश्री पब्लिकेशन से प्रकाशित हुआ है। संग्रह में अधिकांश क्षणिकाएँ या लघु कविताएँ हैं, जो आठ उपक्रमों से विभाजित हैं। इस संग्रह की भूमिका वरिष्ठ साहित्यकार श्रीभोलानाथ कुशवाहा ने लिखी है। कवि ने 'आत्मनिवेदन' में स्पष्ट लिखा है, वे किसी कॉलेज में हिन्दी शिक्षक बनना चाहते थे अर्थात् उनका लगाव हिन्दी के प्रति बहुत स्वाभाविक, गहरा और बचपन से था। छात्र–जीवन से धर्मयुग आदि पत्रिकाएँ पढ़ने की प्रवृत्ति ने उनकी सृजन क्षमता को प्रेरित किया होगा।

सविता जी का प्रारंभिक जीवन सामान्य स्तर का था। समाज के हर पहलू को समझने का उनको मौका मिला, कल्पना नहीं, यथार्थ से उनका सीधा मुकाबला होता रहा। आज का आदमी अपनी रोजमर्रा की समस्याओं से इस कदर उलझा रहता है कि वह पलभर के लिए तनावमुक्त होना चाहता है। उसके पास गंभीर और बड़ा साहित्य पढ़ने का न तो समय है और न जज्बा। उसे मनोरंजन की तलाश रहती है। लंबी कविता की जगह कम शब्दों में कही गई बातों में अपना मतलब प्राप्त करना चाहता है। इस परिप्रेक्ष्य में सविताजी की क्षणिकाएँ और छोटी कविताएँ पाठकों के लिए पाथेय का काम करती हैं। चलते–फिरते कविताओं को पढ़कर वह मनोरंजन भी कर लेता है और पढ़ने की भूख भी मिटा लेता है। इस दृष्टि से संग्रह की कविताएँ बहुत कीमती और उपयोगी हैं।

'हथौड़ियों की चोट' प्रतीकात्मक शीर्षक है। हर उस घटना या मनसूबे पर ये कविताएँ चोट करती हैं, जो समाज और मानवता के विरुद्ध है।

आज की भागती दुनिया में आदमी की आँखें भौतिकता की चकाचौंध में इतनी उलझी हुई हैं कि सामान्यतया उसका आकर्षण कविता की ओर नहीं है। कवि और लेखक हैं, पुस्तकें भी हैं; किन्तु पाठक कितने हैं, यह वास्तविकता उन्हें भी पता है। पढ़नेवालों को कोर्स की किताबों से फुर्सत नहीं और कामकाजी लोगों को अपने काम से। इन्हीं के बीच कुछ लोग हैं, जो साहित्य को आगे ले जा रहे हैं। इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता है कि आज बहुत लिखा जा रहा है। हमें यह समझना होगा कि कविता व्यापक जीवनबोध के लिए जरूरी हैं कविता हमें जीवन की रोशनी देती है। कविता समस्त मानवता से ही नहीं, अपितु चराचर से प्रेम करना सिखाती है। इस संग्रह की कविताएँ ऐसा ही सन्देश छोड़ती है।

आज का समय पूंजी के प्रभाव का है। मूल्यहीनता या मानवीय मूल्यों का क्षण, श्रम का अगाध शोषण, बाजार और लाभ–हानि का मुद्दा वर्तमान की चिंता के विषय हैं। सविताजी की रचनाओं को पढ़ते हुए ऐसा स्पष्ट होता है कि उनके अंदर की सामाजिक अनुभूतियाँ अभिव्यक्त हो उठी हैं। इन कविताओं में आम आदमी के सरोकारों पर गहरा लेखन है। दिन–रात मेहनत करके परिवार के दो जून की रोटी मुहैया करानेवाले मजदूर या किसान जानता है कि यह रोटी कितनी महँगी है। उसकी ईमानदारी और उसके श्रम का पलड़ा पता नहीं, क्यों हल्का ही रह जाता है। 'रोटी' कविता में इस सच्चाई को देखा जा सकता है–''महँगाई ने/रोटी का आकार/जितना छोटा कर दिया है/आदमी ने उसे/उतने ही बड़े तराजू/ईमान के साथ/तौल दिया है।''

सविताजी शब्दों के तीर इस प्रकार छोड़ते हैं कि निशाना बिल्कुल अचूक होता है। एकदम ठीक जगह पर लगता है। 'घोटाले' कविता में नेताओं पर किये व्यंग्य को देखा जा सकता है–''भगत सिंह को/आजादी के लिए/बर्फ की सिल्लियों पर/सोना पड़ा/हमारे नेतागण/नोटों की गड्डियों पर/सोने के लिए/करते हैं/नित नये–नये घोटाले।''

किसान की पीड़ा का बखूबी चित्रण करने के बाद किसान के बहाने भ्रष्ट नेताओं पर टिप्पणी करती कविता 'नया किसान' सटीक व्यंग्य करती है–''चलाकर जनता पर/ भाषणों के हल/वोटों को काटकर फसल/असेम्बली–बाजार में/बाँधते नोटों के बंडल/हुआ मेरा विहान/मैं हूँ देश का नया किसान।''

आजादी के बाद राजनीति का स्तर दिन–प्रतिदिन नीचे गिरता जा रहा है। 'जनता की सेवा' या 'जनता का प्रतिनिधि' जैसे शब्द अब महत्वहीन हो गये हैं। स्वार्थ हावी होता जा रहा है। आज इस पार्टी में तो कल उस पार्टी में। कुछ तो ऐसे हैं, जिनकी किसी विचारधारा में कोई प्रतिबद्धता नहीं रह गयी है। जब जिस पार्टी से टिकट मिलने की संभावना बनती है, अगले दिन अपने कुछ समर्थकों के साथ उस पार्टी में शामिल हो जाते हैं। दलबदल की इस नीति ने भी शुचिता को अपवित्र किया है। 'मंत्री–पद' कविता में ऐसा ही यथार्थ झलकता है–''गर्व से कहो/हम भारतीय हैं/हमारे यहाँ/मंत्री–पद अगणितीय हैं।''

आज की पीढ़ी ने स्वतंत्रता का मतलब ही अलग निकाल लिया है। किसी नियम–कानून की सरेआम धज्जियाँ उड़ायी जाती हैं। अनुशासन जैसा शब्द पुराना–सा लगता है। अब कुछ लोग स्वतंत्रता का गलत अर्थ मान बैठे हैं। वे जो करें, वही सही है। 'स्वतंत्रता' कविता में लोगों की ऐसी ही उच्छृंखलता सामने आती है–''हम स्वतंत्र देश के/स्वतंत्र नागरिक/हर गलत–सही कार्य/करने के लिए/स्वतंत्र हैं।''

इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि तकनीक की दिशा में देश प्रगति कर रहा है। सबके हाथ में मोबाईल देखा जा सकता है। टू जी से फोर जी और अब फाइव जी की ओर बढ़ रहे हैं। सड़कों का जाल बिछता जा रहा है। कस्बों में भी बिग बाजार और मॉल–संस्कृति के बढ़ते चरण शहर और गाँव का फर्क मिटा रहे हैं, किन्तु जिस मजदूर को काम के लिए दर–दर भटकना पड़ता है, उसका क्या? 'इक्कसवीं सदी' कविता में ऐसे ही श्रमिकों की पीड़ा को स्वर दिया गया है–''हरिया को तीन दिन से/ मजदूरी नहीं/ खाना भी नहीं मिला/ दीवार पर चिपके पोस्टर पर/ लिखा था–इक्कीसवीं सदी की ओर/ बढ़ रहे हैं हम।''

कोई क्षेत्र छूटता नहीं, हर पहलू पर उनकी पैनी दृष्टि पड़ी है और उसे कविता का विषय बनाया है। पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक, व्यावहारिक और आम आदमी से जुड़े तमाम सरोकारों पर अपनी लेखनी चलायी है। काल चेतना के पारखी कवि केदारनाथ सविता पत्थर में इन्सान जगानेवाले इन्सान को स्वयं पत्थर होता हुआ देखकर बिना कहे नहीं रुक पाते–''शिल्पकार/ पत्थर में / इन्सान जगाने के लिए/ हथौड़ियों की चोट करता रहा/ यहाँ इन्सान/ इन्सान की चोट से।

कवि की भाषा सहज–सरल होते हुए भी कहीं नुकीली तो कहीं चुटीली बन गयी है। तेज, प्रेम और हास्य से संग्रह की कविताएँ नये आस्वाद प्रदान करती हैं। कवि को हार्दिक बधाई।

समीक्षा

वसंत के हरकारे : कवि शैलेन्द्र चौहान

सुरेन्द्र सिंह कुशवाह
विदिशा, मध्यप्रदेश
मो–9826460198

वसंत के हरकारे : कवि शैलेन्द्र चौहान, संपादक सुरेन्द्र सिंह कुशवाह द्वारा संपादित शैलेन्द्र के व्यक्तित्व–कृतित्व पर केन्द्रित बीस आलेखों का संकलन है। इसमें सूरज पालीवाल, प्रकाश मनु, वसंत मुखोपाध्याय, अभिज्ञात, शीलचंद पालीवाल, डॉ. शंभु गुप्त जैसे विद्वानों द्वारा शैलेन्द्र चौहान की रचनात्मकता पर की गई विचारपरक समालोचनाएँ संकलित हैं। वैसे तो शैलेन्द्र ने साहित्य की विविध विधाओं में लिखा है, पर काव्य में उनकी विशेष गति है। शायद इसलिए संकलन का प्रारंभिक दस–बारह समीक्षात्मक लेख उनके काव्य–लेखन को लेकर हैं। किताब के शीर्षक में भी शैलेन्द्र के कविरूप को ही प्रधानता दी गई है। शैलेन्द्र की कविता के दो प्रमुख अंग हैं–एक लोक जीवन, दूसरा शोषित–पीड़ित जन के प्रति चिंता।

कुशवाह जी ने शैलेन्द्र चौहान के वसंत के हरकारे कहा है। शैलेन्द्र सच में वसंत वाहक हैं। वसंत के दस्तक देते ही काफी कुछ बदल जाता है। वसंत के ठाठ निराले हैं। वसंत का नाम ही उत्कंठा है। वह ऋतुराज है। उसके आते ही मन उत्साह–उमंग से भर आता है। आम्र बौराने लगते हैं। आम्रकुंज की मदमाती गंध मन मोह लेती है। अमराइयों के बीच कोयल कूकती है, तो हवा गाने लगती है। आनंद का विस्तार होने लगता है। वसंत केवल ऋतु ही नहीं, एक राग भी है। राग वसंत छह रागों में दूसरे क्रम का राग है। प्रेम का राग! जयदेव का काव्य 'गीत–गोविन्द' तो वासंती रसवृष्टि का ही काव्य है। राग और ऋतु दोनों ही दृष्टि से शैलेन्द्र वसंत के हरकारे हैं। उनके काव्य से होती रसवर्षा मन को भिगो देती है।

कविता शैलेन्द्र चौहान की अभिव्यक्ति का मुख्य औजार है। एक दृष्टि–सम्पन्न आलोचक की मेधा उनमें है। वे ग्रामीण परिवेश और लोक संवेदना के रचनाकार है। उनकी प्रतिबद्धता असंदिग्ध है। उनके सामाजिक सरोकारों को उनकी रचनात्मकता में चिह्नित किया जा सकता है। संकलन के लेखों में उनके इस रूप को शिद्दत से उकेरा गया है। इन विवेचनाओं से शैलेन्द्र की कविता के अंतर्जगत में प्रवेश करना आसान हो गया। वस्तुतः ये एक अन्वेषी कवि हैं। वैचारिकता और दार्शनिकता उनकी कविताओं की बड़ी ताकत है। कविताएँ समय के घातों–प्रतिघातों को व्यक्त करती हैं। शैलेन्द्र को जनवादी काव्य का प्रतिनिधि कवि कहा गया है। उनके पास गहरी जीवन–दृष्टि है। उन्हें पता है कि जीवन–शिल्प को जाने बिना रचना–शिल्प की बात करना व्यर्थ है। इस निमित्त उनके पास सतत प्रवाही आडम्बरहीन भाषा है। शैलेन्द्र ग्राम्य जीवन के कुशल चितेरे हैं। लोक उनके अंदर गहरे तक समाया है। अपनी अनेक रचनाओं में उन्होंने अंचल को शिद्दत से उकेरा है। गाँवों की बदलती तस्वीर उन्हें बेचैन किये रहती है। रचनाओं से लुप्त हो रहे लोक के प्रति वे चिंतित हैं। बाजारवाद और शहरीकरण से गाँव प्रदूषित हुए हैं। ग्राम्य–संस्कृति विकृत हो रही है। शहर बड़े वेग से गाँवों में प्रवेश कर रहे हैं। लोक बाजार में और बाजार लोक में दाखिल हो रहा है। शहरों के विस्तार से गाँव और प्रकारान्तर कृषि–भूमि सिकुड़ रही है। बाजार के धमाके ने लोक की सही–सही अस्मिता को नष्ट किया है। जैसा कि कृति में शामिल अधिकांश लेखकों ने अपनी विवेचना में बताया है, संस्मरणात्मक उपन्याय 'पाँव जमीन पर' में कवि ने ग्रामीण जीवन के सुख–दुःख, संघर्ष, हास–परिहास; रहन– सहन और लोकाचार को प्रस्तुत किया है। 'लोक परंपरा और समकालीन कविता' लेख में लेखक ने दर्शाया है कि कविता में आज लोक कितना अल्प रह गया है।

संकलन में शामिल लेखों से स्पष्ट है कि शैलेन्द्र की कई रचनाओं में दलित वर्ग के साथ कथित उच्च वर्ग द्वारा किये जा रहे भेदभाव के खिलाफ प्रतिरोध का स्वर है। परिवर्तन और प्रगतिशीलता की कितनी ही बातें हम कर लें, आज भी दूरस्थ गाँवों में निचली जाति के लोगों से दूरी बनाई रखी जाती है। उन्हें अछूत माना जाता है। उन्हें मंदिरों में जाने और सार्वजनिक कुओं से पानी भरने से रोका जाता है। शैलेन्द्रजी ने अपनी एक कहानी में सवर्णों की ऐसी दूषित मनोवृत्ति पर तंज कसा है। कैसी विडम्बना कि अछूत माने जानेवाले जिन दलितों–दमितों को घर से दूर रखा जाता है, उन्हीं अछूतों से सामूहिक भोजन तैयार करने के लिए लकड़ी चिरवाई जाती है और भट्ठी खुदवाई जाती है। उन्हीं लकड़ियों और उसी भट्ठी पर पके भोजन को सवर्ण बड़े चाव से खाते हैं, तब उनका धर्म भ्रष्ट नहीं होता। मीठा–मीठा गप, कड़ुआ–कड़ुआ थू। इस मानसिकता पर याद पड़ती है परसाईजी की उक्ति कि दलित स्त्री के साथ व्यभिचार करने से जाति नहीं जाती, उससे विवाह करने से जाती है। सुविधाभोगियों की हीन सोच पर यह अच्छा कटाक्ष है। दरअसल शैलेन्द्र प्रतिबद्ध रचनाकार हैं। उन्हें पता है कि जीवन के संघर्ष में उन्हें किसके साथ खड़ा होना है।

शैलेन्द्र की आलोचनात्मक पुस्तक 'कविता का जनपक्ष' पर भी संकलन में महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ हैं। शैलेन्द्र का एक रूप सजग आलोचक का है। उनकी छवि निष्पक्ष, दृष्टि–सम्पन्न, निडर आलोचक की है। शायद आलोचना ही सर्वाधिक विवादास्पद और अनुर्वर विधा है। आज आलोचना की सबसे बड़ी समस्या विश्वनीयता की है। मित्रता निभाते हुए कई बार आलोचक सच कहने से कतराते हैं। जबकि निष्पक्ष, राग–द्वेष से मुक्त रचनात्मक आलोचना का स्वागत किया जाना चाहिए। शैलेन्द्र इसी मत के हैं। अपने मंतव्य को पूरी ताकत से व्यक्त करने का साहस उनमें है। उनके अनुसार आलोचक को रचना में गहरे उतरकर उसके कला और भाव दोनों पक्ष को देखना चाहिए। 'अपनी कविता का जनपक्ष' कृति में कतिपय वरिष्ठ कवियों की विचारधारा पर उन्होंने गंभीर टिप्पणियाँ की है कि कैसे कुछ ने अपना साहित्यिक अभिजात्य जताने के लिए छद्म रूप अख्तियार किया। इन कवियों ने भाववादी दर्शन के आधिक्य की ही चर्चा की है। उनकी कविताएँ जन–विरोध में खड़ी होकर पीड़ित जन के हित–साधन में बाधक हैं। स्मरणीय है कि आलोचना साहित्येतर काम नहीं है, वह रचना का सफर तय करती है। वह पाठक के लिए ही नहीं लेखक के लिए भी होती है। राग–द्वेष से मुक्त आलोचक लेखक को अपने लिखे पर पुनर्विचार का अवसर देती है। वस्तुतः एक कुशल समीक्षक धूप देखकर छाता पकड़ने की कला सिखाता है।

संस्मरणात्मक उपन्यास 'पाँव जमीन पर' में लेखक के बचपन से लेकर कॉलेज जीवन तक के अनुभव संगृहीत हैं। इस संदर्भ में महेन्द्र नेह और अर्जुन प्रसाद सिंह के लेख महत्वपूर्ण हैं। बचपन के अनुभवों के सहारे शैलेन्द्र ने ग्राम्य जीवन की तस्वीर पेश की है। उल्लेखनीय है कि पूर्वापेक्षा अब संस्मरण लेखन विपुल मात्रा में हो रहा है। संस्मरण साहित्य को साहित्य मूल्यांकन का महत्वपूर्ण अंग माने जाने लगा है। रमेशचंद्र शाह, काशीनाथ सिंह, खुशवंत सिंह, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, मन्नू भंडारी, कांतिकुमार जैन आदि के संस्मरणों ने नये कीर्तिमान रचे हैं। आत्मकथात्मक संस्मरण लिखना जोखिम भरा काम है। एक अत्यन्त संवेदनशील मुद्दा। यहाँ एक ओर स्वयं को महिमामंडित करने के अवसर हैं, तो दूसरी ओर दूसरों की पगड़ उछालने के भी। कई बात आत्मकथाकार अपनी कमजोरियों और कारगुजारियों को छिपा जाता है। मन्नू भंडारी की 'एक कहानी यह भी' संतुलित, ईमानदारी, मर्यादित आत्मकथ्य है, यद्यपि वहाँ भी कुछ चीजों का खुलासा नहीं किया गया। वस्तुतः आत्मकथात्मक संस्मरण लिखना तनी हुई रस्सी पर चलने के समान है। संतोष का विषय है कि शैलेन्द्र चौहान ने अपने संस्मरणात्मक उपन्यास में स्वयं को किशोरावस्था और युवावस्था तक सीमित रखा है। इस बहाने लेखक ने लोक–जीवन और निम्न मध्यमवर्गीय व्यक्ति के संघर्ष को बयाँ करने के अवसर जुटा लिये। कुछ समीक्षकों ने 'पाँव जमीन पर' को रिपोर्ताज शैली में लिखा आत्मकथ्य कहा है। जो भी हो, इससे कृतित्व का महत्व नहीं घटता।

कुल मिलाकर 'वसंत के हरकारे' कवि शैलेन्द्र चौहान जी के व्यक्तित्व–कृतित्व को सम्रगता में जानने–समझने का श्रेष्ठ उपक्रम है। पूरी किताब पर संपादकीय दृष्टि अंकित है। भरोसा है, संपादक का प्रयास अकारथ नहीं जाएगा।

समीक्षा

सिमट गये सवांद : यथार्थ से मठुभेड़

वीरेन्द्र परमार
फरीदाबाद
मोबाइल– 9868200085

जिस साहित्यकार के साहित्य में अपने समय की संवेदना व्यक्त नहीं होती उसका लेखन शीघ्र काल–प्रवाह में विलीन हो जाता है। हिन्दी और बज्जिका के सशक्त हस्ताक्षर हरि नारायण सिंह 'हरि' के साहित्य में समकालीन सामाजिक और राजनैतिक जीवन अपनी समस्त विडम्बनाओं एवं खूबियों के साथ अभिव्यक्त हुआ है। उन्होंने छोटी–छोटी घटनाओं को आधार बनाकर काव्य रचना की है। इनकी कविताएँ मानव मन पर गहरा प्रभाव छोडती हैं। इनकी कविताओं में मानवीय मूल्यों को प्रति स्थापित करने की छटपटाहट है। जीवनानभुवों से प्रेरित इनकी काव्य रचनाओं में वर्तमान साँसे लेता है और भविष्य आशावाद के पुष्प–पराग बिखेरता है। इनकी कविताएँ काल के गीत सुनाती हैं और सच्चाइयों के साथ अठखेलियाँ करती है। इनकी कविताएँ मानव–मन के एकांत में झाँककर भावनाओं के आरोह–अवरोह व छटपटाहट को आकार देती हैं। हरि जी के साहित्य का फलक अत्यन्त विस्तृत है। वे बज्जिकांचल की माटी से गहरा जुड़ाव रखते हैं। फलतः इनके साहित्य में बज्जिकांचल की सोंधी महक और ग्राम्य जीवन की सुगंध है। इन्होंने गाँव की मूक वेदना को वाणी दी है। वे रूढ़ियों से ग्रस्त जड़ समाज में प्राण का संचार करना चाहते हैं। इनके मन में ग्रामोद्धार का सपना पल रहा है। वे जानते हैं कि गाँव के विकास का मतलब देश का विकास है केवल आजादी मिल जाने मात्र से देश का विकास नहीं हो सकता, बल्कि कुशासन और राजनैतिक प्रपंचों से मुक्ति ही देश के विकास का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। भारत के राजनैतिक परिदृश्य और पतनशील व्यवस्था पर हरि जी के शब्दों के घातक प्रहार की अनगुंज दूर तक सुनाई पड़ती है। दोहा मुक्तक काव्य का प्रधान छंद और साहित्य की एक लोकप्रिय विधा है, जो कम शब्दों में अधिक भावराशि को समेट लेती है। इसमें संक्षिप्त और तीखी भावव्यंजना को प्रकट करने की अद्‌भुत क्षमता होती है। दोहा लिखना गागर में सागर भरने के समान है। बहुआयामी प्रतिभा के धनी साहित्यकार श्री हरि नारायण सिंह 'हरि' ने अपने दोहा सग्रंह 'सिमट गये संवाद' के दोहों के माध्यम से गागर में सागर भरने का उपक्रम किया है। श्री हरि ऐसे शब्द साधक हैं, जिन्होंने साहित्य की प्रायः सभी विधाओं में अपनी प्रतिभा की सुगंध बिखेरी है। उन्होंने साहित्य की जिस विधा को स्पर्श किया वह विधा उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा से निहाल हो गई। सिमट गये संवाद का आरंभ ईश वंदना से होता है। इन्होंने गणेश, माँ शारदे, माता–पिता और गुरु की वंदना करते हुए अपनी वाणी में माधुर्य की कामना की है–

वाणी में माधुर्य दो, लेखन रस से सिक्त
गद्य–पद्य आलोचना, शक्ति भरो अतिरिक्त।

आजकल धर्म के नाम पर पाखंड और अधर्म का बोलवाला है। मानवता सिसक रही है और सामाजिक मूल्यों का निरंतर क्षरण हो रहा है। हरि जी ने मानवता को सबसे बड़ा धर्म
बताया है। उन्होंने परोपकार को सर्वश्रेष्ठ धर्म सिद्ध किया है–

मानवता दिखलाइए, यही उचित है धर्म
परहित से अच्छा नहीं, जग में कोई धर्म।

'सिमट गये संवाद' के दोहों में युग–जीवन की विद्रूपताओं, विसंगतियों और विडंबनाओं को रेखांकित किया गया है। 'नेता करे न चाकरी' शीर्षक दोहों में भारत के राजनैतिक प्रपंच, नवसामंतवाद और पाखंड पर निर्मम प्रहार किया गया है–

लोकतंत्र की कोख से जन्मे नव सामंत
जिनसे व्याकुल हो उठे, जन–गण–मन अत्यंत
करना– धरना कुछ नहीं, राजनीति व्यवसाय
कोई इनसे पूछ ले, इसमें इतनी आय ?

भारतीय लोकतंत्र के सम्मुख सबसे बड़ा यक्ष प्रश्न यह है कि अच्छे लोग राजनीति में शामिल क्यों नहीं होना चाहते। राजनीति उन लोगों की शरणस्थली बन गई है, जो दुर्जन, झूठे और अपराधी हैं। 'लोकतंत्र विकलांग है' शीर्षक दोहों में हरि जी ने भारतीय राजनीति के गिरते स्तर पर चिंता व्यक्त की है। यह संसदीय लोकतंत्र का कैसा मजाक है कि राजनैतिक दल टिकट बेचते हैं और जनता जाति, धर्म और लोकलुभावन नारों के आधार पर वोट देती है। जनता शराब, पसै और मुफ्त राशन पानी के लोभ में वसै उम्मीदवारों को भी अपना भाग्यविधाता चुन लेती है जिनके हाथ खून से रंगे होते हैं। हरि जी ने अपने दोहों में नेताओं की करतूतों व सिस्टम की खामियों का पोस्टमार्टम किया है–

उत्तम पुरुष न आ सकें, राजनीति में एक
इस संसदीय तंत्र की, विस्मयकारी टेक
टिकट बेचती पार्टियाँ, जनता बेचे वोट
तुमको क्या दिखती नहीं, सिस्टम की यह खोट।

भारत में कहनेको तो लोकतंत्र है, लेकिन यह तंत्र लोक हितैषी नहीं है। लोक का तंत्र से संबंध विच्छेद हो गया है। भारत का लोकतंत्र धनपशुओं का चरागाह बन गया है। कहने को यहाँ लोकतंत्र है, लेकिन वस्तुतः यह लटूतंत्र, वोटतंत्र, धनतंत्र और भ्रष्टतंत्र में तब्दील हो गया है–

जीवन भर लूटा किया, रहा नहीं इंसान
लोकतंत्र ऐसा हुआ, वह तो हुआ महान।

भारत का लोकतंत्र अब पार्टीतंत्र बन गया है। पार्टी विजय को ही भारत विजय घोषित करनेका प्रयास किया जा रहा
है। राजनैतिक दलों ने लोकतंत्र को कैद कर लिया है। भारत का लोकतंत्र दलों के दलदल में फँसकर सिसक रहा है–

दल के दलदल में फँसा रहा, आदमी सोच
लोकतंत्र के तंत्र में, बड़े–बड़े हैं खोंच
लट्ठम–लाठी कर रहे. मुद्दा बना किसान
लोकतंत्र में लट्ठ ले, बन बठै शैतान

नेताओं और पार्टियों का मुख्य ध्येय वोट लेना और सत्ता सुख भोगना मात्र रह गया है। वोट के लिए वे समाज में जातिवाद का विष घोलते हैं। 'मतलब केवल वोट से' शीर्षक दोहे भारतीय नेताओं के छद्‌म, पाखंड और पतनशील राजनीति का पोस्टमार्टम करते हैं–

राजनीति टुच्ची हुई, जो दे ज्यादा बाँट
वह गुलाब–सा खिल उठे, जो बोये नित काँट
अच्छे की चलती नहीं, पकड़ लिए वे खाट
दुर्जन बैठा माथ पर, अजब निराली ठाट।

कवि का संवेदनशील मन किसानों की दयनीय दशा को देखकर बेचैन है। देश में किसानों की चिंता करनेवाला कोई नहीं है। स्पष्ट किसान नीति न होने के कारण किसान कर्ज लेने और आत्महत्या करने के लिए अभिशप्त हैं। कई दशकों से भारत में किसानों के नाम पर राजनीति की जा रही है। संगठनों और आन्दोलनों की पीठ से गजुरकर अनेक नेता संसं में पहुँच गए, लेकिन

किसानों की दशा पर आँसू बहानेवाला कोई नहीं है। कौन किसानी अब करे शीर्षक दोहे भारत के किसानों की व्यथा–कथा को वाणी देते हैं–

नहीं समझ कोई रहा, इस किसान का दर्द
क्योंकर इसका हो रहा, मुखड़ा इतना जर्द
सब मिलकर हैं लूटते, लुटते नित्य किसान
संचालक इस देश के, बेच चुके ईमान।

'रावण का व्यापार' शीर्षक दोहों में पौराणिक पात्र रावण के माध्यम से व्यवस्था की दुर्लभताओं पर कशाघात किया गया है। इस युग में बार–बार मर्यादा की सीता का अपहरण किया जाता है; लेकिन मर्यादा रूपी सीता की रक्षा करने के लिए कोई राम नहीं आता। अब कोई राम नहीं है, जो कलियुग के रावण का वध कर सके। हर कदम पर व्यवस्था का रावण आम आदमी की आकांक्षाओं को लील लेने के लिए तैयार बैठा है–

रामराज्य की कल्पना, बस कल्पित आधार
लोकतंत्र में फल रहा, रावण का व्यापार।

हरि जी ने लालबहादुर शास्त्री, अमन चाँदपुरी, कैलाश झा किंकर आदि के प्रति अपनी काव्यमय श्रद्धा निवेदित की है। हरि जी ने शास्त्रीजी को भारत माता का सच्चा सपूत घोषित किया है–

माँ के सच्चे पूत थे, वीर बहादुर लाल
लालबहादुर कर गए, माँ का ऊँचा भाल

हरि जी शब्दों के मौन साधक हैं। इनकी कविताएँ सहज होती है और पाठकों के अंतर में उतर जाती हैं। हरि जी का पाखंड हीन जीवन और साहित्य के प्रति उनका नि:स्वार्थ समर्पण वरेण्य है। संजय पंकज ने एक दोहे में हरि जी के व्यक्तित्व का सम्पूर्ण आकलन प्रस्तुत कर दिया है–

मित्रों के हैं मित्र हरि, कविता–साधक मौन
गीत–ग़ज़ल–कविता रमे, गद्य रहे तब गौण।

हरि जी के दोहा संग्रह 'सिमट गये संवाद' के दोहों में जीवन का ताप और यथार्थ की खुशबू है इन कविताओं में शब्द रूपी डंडे से विद्रूपताओं पर निर्मम चोट की गई है। ये दोहे कल्पना– लोक से नि:सृत नहीं हुए हैं, बल्कि यथार्थ जीवन से प्रेरणा लेकर कवि ने युगीन सच्चाइयों को शब्दांकित किया है। यह कविता नहीं, बल्कि सामयिक यथार्थ का प्रतिबिम्ब है। दोहाकार ने जीवन की पाठशाला में बैठकर इन दोहों को आकार दिया है। हरि जी के जीवन के कटु अनभुवों ने दोहा का रूपाकार धारण कर लिया है। कवि ने सरल शब्दों के माध्यम से युग–जीवन की परतें खोल दी हैं। भाव और कला की दृष्टि से भी संग्रह के दोहे अत्यन्त प्रभावशाली हैं।

पुस्तक–'सिमट गये संवाद'
कवि – हरि नारायण सिंह 'हरि' प्रकाशक– श्वेतवर्णा प्रकाशन, नई दिल्ली, वर्ष 2022

कविता

यही है जीवन

मनोरंजन सहाय सक्सेना,
ए–25 इन्द्रपुरी, लालकोठी,
टोंक रोड जयपुर–302015

घर के आँगन सूना
बाहर है हर मंजर सूना
सूनी सड़कें, सूनी गलियाँ
मन का हर इक कोना सूना

स्मृतियाँ दस्तक देती थीं
खोल, किवड़िया मन मंदिर की
ऊब गयी हैं वह भी शायद
दस्तक देती नहीं कोई भी

कहते हैं विद्वान समय है
स्वाध्याय और आत्मचिंतन का
पढ़े किताबें कितनी कितना
लेखा देखें इस जीवन का

सात दशक लम्बे जीवन की
यादें भी मधुसिक्त नहीं है
अपनों के ही बेगानेपन से
अति कटु है और तिक्त बनी हैं

मिला नहीं अपनमान जिनको
जीवन में एक पल एक छिन को
रहा सदा अभिशप्त, तरसता
अपनेपन के एक मृदु छिन को

मिली नहीं आंचल की छाया
जिसके तले सिर्फ कुछ पल को
कर लेते विश्राम घड़ी भर
विस्मृत कर बीते कटु कल को

मिला न कांधा एक कभी
जिस पर सिर रखकर कुछ पल को
हम भी जार रो लेते
हल्का कर लेते इस दिल को

इसीलिए अब यह एकाकी
सूनापन जीवनसाथी है
थकती साँसें बरबस ढोती
यह जर्जर जीवनथाती है

आज प्रश्न है यक्ष किसलिए
स्पन्दित शव सम जिन्दा है
शिथिल हो रही हैं कर्मेन्द्रिय
ज्ञानेन्द्रियाँ भी शर्मिन्दा हैं

जर्जर तन और खंडित मन से
बोझ ढो रहे हैं जीवन का
शेष नहीं है कोई चाहत
नहीं है हल एक जटिल प्रश्न का

यही है जीवन, क्या है जीवन
इस जीवन के आगे क्या है
मोक्ष सत्य या पुनर्जन्म है
कोई नहीं बता पाया है।

समीक्षा

हमेशा देर कर देता हूँ मैं

अशोक प्रियदर्शी
डूरमू, हाउसिंग कॉलोनी, राँची (झारखण्ड)
मो. 9430145930

सचमुच, पंकज सुबीर की दस कहानियों का ताजा संकलन 'हमेशा देर कर देता हूँ मैं' मुझे मिला, तो एक–दो दिन तक इसे अपने टेबुल पर पड़ा रहने दिया,जैसे कोई देव विग्रह हो। फिर पढ़ना शुरू किया, तो नियम बनाया कि एक दिन में बस एक कहानी पढ़ूँगा। वजह यह कि लगा, दस ही तो कहानियाँ हैं, दस दिनों में खत्म हो जाएँगी, तो फिर क्या पढ़ूँगा?खैर। किताब पूरी हुई। कुछ दिनों तक इन कहानियों का नशा ताजा रहा। सोचता रहा, इसपर लिखना तो है। इसी बीच सीधे हिमालय से बरास्ता दिल्ली आती हुई प्राणलेवा शीतलहर। बकौल एक भोजपुरी उक्ति ठंढ का कहना है कि वह वरिष्ठ नागरिकों को छोड़ेगा नहीं, चाहे वे कितनी भी रजाइयाँ ओढ़ ले। इस तरह पाँच दिन निकलते गये और मैंने पाया, इस कहानी संकलन पर लोगों की समीक्षाएँ आ गयी हैं, यानी शुरू हो गयी है और ऐसा पहली बार नहीं हुआ है। सच, हमेशा देर कर देता हूँ मैं भी। बहरहाल, हम पंकज सुबीर की कहानियों में घटनाओं का सिलसिला, चाहे वे छोटी–छोटी गतिविधियाँ ही हों देखने–पढ़ने के आदी रहे हैं। मुझको लगता है कि इधर पंकज सुबीर की कहानियों में नरेशन–विवरण बढ़ता गया है। जो फिर भी सुबीर टच तो इन कहानियों में है ही। सुबीर–टच यों कि या तो प्रसंग ऐसे होंगे, जो आपके जाने–सुने नहीं होंगे या परिचित प्रसंगों के भी जिस निष्कर्ष पर पहुँचने का अनुमान आप लगा रहे होंगे, वे गलत साबित होंगे। पंकज सुबीर इसीलिए पंकज सुबीर हैं। पहली ही कहानी, जिसके शीर्षक को ही पुस्तक का नाम दिया गया है, उसके प्रसंग प्रायः जाने सुने हैं। 'लंबी चाची की भूख' भी अस्वाभाविक नहीं लगती। कोई भी कच्चा कहानीकार 'लंबी चाची की भूख' को मन्नी से शांत करा देता। ऐसे दृश्य सिरजने का अपना मजा था, लेकिन अपराध–बोध से ग्रसित लंबी चाची ने बंधान में कूदकर जान दे दी है। अपराध–बोध?इससे तो भर गया है मन्नी। जफर के परामर्श पर हिम्मत बाँधता है मन्नी, पर देर हो चुकी है। मुनीर नियाजी की ग़ज़ल की पंक्तियाँ एक अजीब से कलात्मक काव्यात्मक अवसाद में डुबो देती है कहानी को और जो कहानी एक साधारण–सी यौन कथा होती, वह असाधारण मनोवैज्ञानिक कहानी बन जाती है। यही हैं पंकज सुबीर।

दूसरी कहानी 'बेताल का जीवन कितना एकांकी' को पढ़ते हुए सन साठ के दशक का दौर याद आ जाता है, जब 'राजा निरबंसिया' जैसी कहानियाँ लिखी जा रही थी, दो–दो कहानियाँ एक साथ एक दूसरे से टकराती, अलग होती और अंततः एक समग्र प्रभाव छोड़ती। बूढ़े की कहानी में दो कहानियाँ हैं, कुछ–कुछ फंतासी शैली में रचित और जो कह जाता है कहानीकार वह है आज का जीवन का त्रास बाल–बच्चे पढ़– लिखकर विदेश में सेटल हो जाते हैं और रह जाता है पिता या रह जाते हैं माता–पिता अकेले बिसूरने को। बेटे–बेटियों की जिंदगी में वे क्यों दखल दें?और अपनी जिंदगी अपने ढंग से जी चुके बुजुर्गों को अपने परिवेश से कटकर जीवन रास भी आएगा क्या! विदेश ही नहीं, स्वदेश में भी उच्च पदस्थ बेटे–बेटियों के बड़े शहरों में अपनी दुनिया बसा लेने पर बिसूरना ही शेष रह जाता है माता–पिता के जीवन में। आज की जिंदगी की यह त्रासद तस्वीर यों फंतासी की शैली में पंकज सुबीर ही लिख सकते हैं शायद।

तीसरी कहानी 'मर नासपीटी'। इस कहानी को दो कोणों से देखा जा सकता है। पहले तो यह कि एक हिन्दू कथाकार मुसलमान चरित्रों को लेकर इतने मजे से कहानी सुना रहा है कि लगता है, यह सारा परिवार परिवेश उसका जाना सुना हो। आपसी सद्भाव जगाने–बढ़ाने का एक तरीका यह भी है, जैसा रामचन्द्र शुक्ल ने कहा था–एक दूसरे की कहानियों को जानना–समझना। यह तो हुई एक बात। यहाँ हलीमा और जरीफा की गोतियारो की लड़ाई का अंत जो दिखाया है कहानीकार ने वह अत्यन्त कलात्मक काव्यात्मक है। नहीं, हलीमा और जरीफा एक दूसरे के बाल नहीं नोच रही...हलीमा पागलों की तरह (मर नासपीटी, मर नासपीटी) कहती हुई टिन की छतों पर पत्थर फेंक रही है और जरीफा उसके सामने घुटनों के बल बैठी रो रही है। इस काव्यात्मक कथा को आप स्वयं पढ़ें।

'खोद खाद मरे ऊँदरा, बैठे आन भुजंग उर्फ भावांतर' संकलन की चौथी कहानी। कुछ–कुछ लेखक के उपन्यास अकाल में उत्सव की याद दिलाती हुई। नहीं, कथा–साम्य नहीं है यहाँ, किन्तु किसानों की बेचारगी की प्रामाणिक कथा है, कुछ वैसी ही प्रामाणिक। लंबे और एक अर्थ में असमाप्त किसान आंदोलन को हम देख चुके हैं। जिन्हें किसानी का निकट का अनुभव नहीं है, वे नहीं समझ पाएँगे इस रहस्यलोक को। हम तो लहर गिनकर भी पैसे कमाना जानते हैं। तुम डाल–डाल, हम पात–पात! और यह कहानी आंचलिकता का स्वाद भी देती है, जो समस्या सार्वदेशिक भी है। मजदूर झोंपिड़यों में ही रहते हैं, इसलिए भी कि उसका कथा–वितान कितना बहुआयामी है और 'मूंडवेवालों का जलवा' खालिस किस्सागोई के अंदाज में कही गई कहानी और पैसों के फूहड़तम प्रदर्शन का रोमांचक आख्यान। इस कहानी का दर्द अपनी जगह, इसकी कथा–कथन की शैली छठी कहानी 'पत्थर की हौदें और अगनफूल'। पुनः इस कहानी की बुनावट भी खास है। प्रारंभ करते हुए लगता है कि यह कहानी जनजाति बहुल क्षेत्र में किसी अंदरूनी स्थान की प्रागैतिहासिक खोज कर रही है, फिर अंधविश्वास में फँसी भोली महिलाओं को शिकार बनानेवाले कथित संत–महात्मा का रहस्य खुलता है। सर्वाधिक आकर्षक है कहानी में व्यंजना–वृत्ति का प्रयोग, भूख पीताम्बर गुदेनिया में भी जगी है, लेकिन बड़ी की भूख पहले शांत होनी चाहिए। पहले पहुँच चुके हैं राकेश अस्थाना हारकर लौट रहे हैं पीताम्बर। शोषण की इस कथा की प्रस्तुति चौंकाती है। परिचित कथा को यों भी परोसा जा सकता है कि लगे कि सारा परिवेश अपरिचित है।

सातवीं कहानी कैद पानी। 'इलाहाबाद के पथ पर' निराला को जो मजदूरनी पत्थर तोड़ती दिखी थी, वह नए रूप में गाँव से दूर दबंग द्वारा 'कैद किये गये पानी' की मुक्ति की लड़ाई लड़ रही है। हाकिम तरुण विश्वकर्मा ललकारते हैं और गाँव की उपेक्षिता पानी को कैद करनेवाले ताले और सिकड़ को तोड़ रही है। काश! सच में ऐसा होता। हम होंगे कामयाब एक दिन, होंगे क्या?

वास्को–डी–गामा और नील नदी थोड़ी गझिन कहानी है। रूपकात्मक प्रतीकात्मक। वास्को–डी–गामा खोजने चला था कोई और देश, पहुँच गया कहीं और वास्को–डी–गामा है वासु कोहली और उनकी खोज है और नील नदी है नीलोफर। और दोनों की लाशें मोर्चरी में पड़ी है। इधर पंकज सुबीर की कहानियों की बुनावट सरल–रेखीय नहीं होती। लेखक को इस गझिन बुनावट के लिए जितना दिमाग लगाना होता है, कहानी को 'डिसाइफर' करने के लिए पाठक भी तो कुछ दिमाग लगाए। शुक्ल जी ने लिखा था–कविता कोई रसगुल्ला नहीं है कि मुँह में रखिए और हलक के पार हो जाए। कवि को कविता लिखने के लिए श्रम करना पड़ता है, कविता का पाठक भी उसका अर्थ समझने के लिए कुछ श्रम करे। कहानी भी सदैव मुँह में घुल जानेवाला रसगुल्ला नहीं

होती। 'चर्चे–ऐ–गुम' संकलन की नौवीं कहानी, अपेक्षया सरल बुनावट वाली, फिर भी मुँह में घुल जाने वाले रसगुल्ले सरीखी नहीं है, तो यह सीधी सी कहानी, हाकिमों को अनुकूल कर ऐसी जमीन को हड़प जानेवाली जिसका लंबे समय से कोई दावेदार नहीं है। किन्तु पंकज सुबीर इस कहानी में एक धार्मिकतावाला पुट जोड़ते हैं। चर्च गुम नहीं हुआ है, उस कहानी पर शहर की सबसे मशहूर मिठाई की दुकान है। इस मिठाई की दुकान से शहर के हाकिम–हुक्काम सभी उपकृत हैं, तो भला अब चर्च की जमीन कहाँ और कैसे मिले। चर्च गुम हो गया है जमीन सहित।

और संकलन की अंतिम कहानी, दसवीं 'इलोई! इलोई! लामा सबाख्तानी' यह कहानी 'हंस' में छपी थी। इस कहानी के शीर्षक को पढ़कर दो विपरीत टिप्पणियाँ मुझको याद आई। एक तो यह कि कहानी का शीर्षक ऐसा हो, जो पाठक के मन में कुतूहल जगाए। लोग 'उसने कहा था' की बात करते थे–किसने कहा था?क्या कहा था?यह कुतूहल जगाता है शीर्षक और इस कुतूहल के याद आता है 'बच्चनजी' की प्रसिद्ध कविता 'दो चट्टानें' का। इसी नाम के संकलन पर बचपन जी को साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला था। कविता की प्रवेशिका में बचपन जी ने लिखा है कि पहले मैं इस कविता का शीर्षक 'सिसिफस बरक्स हनुमान' रखने जा रहा था, फिर मुझको लगा कि हिन्दी के आम पाठकों का जो हाल है, वे कहेंगे या पूछेंगे–हनुमान तो हनुमान, यह सिसिफस क्या बला है?और पाठकों को चौंकाना मुझको उचित नहीं लगा, इसलिए मैंने सीधा–सा शीर्षक रख दिया दो चट्टानें। एक चट्टान वह जिसे श्रीहनुमान आज भी हथेली पर उठाये घूम रहे हैं (लोक कल्याणार्थ) और दूसरी चट्टान वह, जिसे अहर्निश सिसिफस ठेलकर पर्वत पर चढ़ा रहा है (करना ही यही है)। सिसिफस का सारा उद्यम व्यर्थ है। खैर, थोड़ा डायवर्शन हो गया। मूल बात यह कि कहानी का यह शीर्षक कुतूहल तो जगाता ही है, किन्तु कहानी लंबी इसलिए हो गई है कि इसे इतिहास कथा जैसा विस्तार दिया गया है, किन्तु कहानी जहाँ जाकर खत्म होती है, पाठक सन्न रह जाता है, एक प्रकार से अवसाद से भरा। कथाकार का कौशल इसमें है कि अंत का यौन प्रसंग जुगुप्सा नहीं जगाता, मजा नहीं देता, खिन्न कर देता है, पाठक को एक प्रकार से अवसाद से भर देता है। कहानी दादी–नानी की कहानी की तरह चलती है और एक राज खोलती है। कहते हैं–ईसा को सलीब पर चढ़ाया गया था, तो मृत्यु से ठीक पहले वह चिल्लाकर बोले थे–'इलोई, इलोई, लामा सबाख्तानी यानी हे ईश्वर, हे ईश्वर, तूने मुझे क्यों छोड़ दिया?'

इस कहानी को ही नहीं, संकलन की सभी दस कहानियों को आप स्वयं पढ़ें। पंकज सुबीर की कथा–लेखन का कौशल ही यह है कि सीधी–सादी कथा को भी यों प्रस्तुत करते हैं कि आप उसके तिलस्म में कुछ देर के लिए उलझे रह जाते हैं।

प्रकाशक : राजपाल एंड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली–6

कविताएँ

नरेश अग्रवाल
सोनारी गुरुद्वारा के पास कागलनगर
जमशेदपुर
मो.–9334825981

आस्था

अभाव के दिनों में
जब शाम तक के लिए
पानी बचाकर रखने को भी
बर्तन नहीं थे

अन्न के दाने मुट्ठी से
सीधे पकने को जाते थे पतीली में
भूख टीस मारती रहती थी
खौलते भोजन के भाप की तरह
अंधेरा–ही–अंधेरा दिखता था चारों ओर
इस चमकते सूरज के प्रकाश में भी

उसी मुसीबत में भी
बचा सके हम आपस के प्रेम को
चारों जने चिपके रहे एक दूसरे से
एक ही देह की तरह

किसी ने रोष नहीं प्रकट किया मुझ पर
कि मैं उनका पिता या उसका पति होकर भी
सक्षम नहीं था
इस गरीबी को परास्त करने में।

स्मारक

इस गाँव में नहीं था
किसी का भी स्मारक
जैसे कभी नहीं रहा हो
कोई इस गाँव का मसीहा

जबकि अनेक मुखिया रहे यहाँ
जो–तोड़ मेहनत की इसे सजाने के लिए
कुएँ खुदवाये, बिजली के तार लगवाये
पाठशालाएँ खोलीं, शिक्षक तैयार कराये
अपने सामर्थ्य पर बदलाव लाकर
वे मृत्यु को प्राप्त हुए

अब बात चली है स्मारक लगाने की
आ धमके हैं कई नये चेहरे
बड़े–बड़े कट आउट लेकर
भाड़े के लोगों द्वारा
अपने जयकारे से
गुंजा रहे पूरा गाँव
थर्रा रहा बंदूकों के डर से लोगों का मन
अब स्मारक बनेगा उसी का
जो जीतेगा यह चुनाव।

देश का झंडा

नन्हा–सा बच्चा
बगैर जूते और पैंट के
हाथ में देश का झंडा लिये
हाथ छुड़ाकर माँ का
शामिल हो गया
भद्र लोगों के जुलूस में
जल्दी ही दुत्कारा जाने लगा
अत्यधिक अफसोस हुआ
पीछे–पीछे दौड़ती आयी माँ को
इतने बड़े–बड़े झंडों को उठाए
आगे बढ़ते लोग
क्यों बढ़ने नहीं देते अपने साथ इसे भी
क्या इसे हक नहीं देशभक्ति का
क्या हक नहीं एक गरीब को
समारोह में शामिल होने का
क्या देश इतना अमीर हो चुका है?

समीक्षा

ऋष्यशृंग

अनिल कुमार झा 'अनुराग'
देवघर (झारखंड)
मो.–9631916037

ऋष्यशृंग पर कोई चर्चा आरंभ करने से पहले एक बार डॉ. अमरेन्द्रकी इन पंक्तियों को हम पढ़ लें–''काव्य का रूप क्या है?अगर थोड़े में समझना चाहें, तो काव्य का रूप है–रचनाकार की वह तकनीक जिसे वह अपनी वस्तु (कन्टेंट) की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त करता है, जिसमें मुख्य रूप से छंद का ही संयोग है।'' (आधुनिक हिंदी ग़ज़ल : सामूहिक संवेगों का आख्यान)

सच में डॉ. अमरेन्द्र का साहित्य ठिठुरती ठंढ के सन्नाटे में सोती दुनिया के लिए सुलगती वह आग है, जो हमें उष्मा देती है। वह उष्मा जिसकी अनुपस्थिति में जीवन नहीं, अंकुरण नहीं, विस्तार नहीं।

पठित पुस्तक ऋष्यशृंग पुराण पुरुष का आलंबन लेकर वर्तमान को तलाशने और तराशने की एक सफल कोशिश का फल है।गीति नाटिका के रूप में लिखी गई कृति है, अंकों में बँटी हुई है, जिसमें कवि ने ऋष्यशृंग की प्रासंगिकता तो स्थापित की है, साथ ही वैसे आलोचकों, समीक्षकों को भी निरुत्तर कर दिया है, जो प्रबंध काव्य को आज के समय में अनावश्यक घोषित करने की जल्दबाजी में है।इस प्रबंध को पढ़ने पर इतना तो शांतिपूर्वक बैठकर मान लेना पड़ेगा कि आज की आपाधापी भरी दुनिया की बिगड़ती समस्याओं के समाधान के लिए ठहरकर विवेचन सोचने, सुलझने की आवश्यकता है कि जिसकी मिसाल है ऋष्यशृंग।

ऋष्यशृंग कौन और क्यों जैसे रूढ़ प्रश्नों और संभावित उत्तरों पर अपनी स्पष्ट स्थापना के साथ ही इसकी आवश्यकता आज के संदर्भ में स्थापित करने की कोशिश हुई है। हम फिर कहना चाहें, तो कहें कि और जो व्यक्ति अंग अंगिका से प्यार करेगा, उसकी प्रतिभा बिल्कुल इसी रूप में प्रस्फुटित होगी।ऐसा
इसलिए भी कि कवि ने ऋष्यशृंग और अंगप्रदेश की प्रकृति का परापर संबंध तो दिखलाया ही, अंग प्रदेश का इतिहास, भूगोल, प्रकृति, जनजीवन और संचालन–व्यवस्था को भी आधुनिक
जगत को दिखाने, बताने की कोशिश की है।

नाटक जिसका कथानक पात्रों के सवादों के सहारे विस्तार पाता है और अपनी प्रस्तुति में ही कोई एक पात्र फल का भोक्ता बन नायकत्व पाता है। पुस्तक के वर्ण्य विषय, विषय की प्रस्तुति और उदात्त चरित्र के कारण ही ऋष्यशृंग इसके नायक हैं।उनके व्यक्तित्व में नायक के सारे गुण भी हैं।कहना न होगा कि शेष पात्र उनके इन्हीं गुणों को स्थापित करने में लगे हैं।वैसे हम सभी जानते हैं कि दुख के बगैर सुख का महत्त्व, रात के बिना दिन का महत्त्व या कहिए खलनायक के बिना नायक का महत्त्व नहीं समझा जा सकता या स्थापित नहीं किया जा सकता।इस गीति नाटिका को पढ़ते हुए मुझ पाठक के मन में भी यह प्रश्न आया और मैंने नकारात्मक चरित्र को समझने और जानने की कोशिश की, तो पाया कवि ने तो यह काम उस कालखंड के जिम्मे सौंपा है, जिसने पुत्रेष्टि यज्ञ की पीठिका तैयार की। आज भी परिस्थितियाँ बहुत बदली नहीं हैं, दूसरे शब्दों में यह कहना उचित होगा कि डॉ. अमरेन्द्र ने इतिहास की आँखों से वर्तमान की जो नकारात्मक छवि देखी है, वैसे में एक कुशल, धीरोदात्त, प्रजापालक राजा की आवश्यकता के लिए पुत्रेष्टि यज्ञ अनिवार्य है, विसंगतियों भरा जीवन ही तो वह खलनायक है, जिसने नायक का औचित्य स्थापित किया।परिस्थितियों ने ऋष्यशृंग के वैरागी जीवन को सिर्फ अनुरागी गृहस्थ ही नहीं बनाया, बल्कि अयोध्या–नरेश को पुत्रेष्टि यज्ञ के लिए विवश भी किया।

पहले अंक में कथा का आधार तैयार हुआ है। एक जगह नवनीता कहती है–

राका, सिद्ध युवक है शृंगी के अक्षत काम करों में
विपुल शक्तियाँ आ जाती हैं, ऐसे सिद्ध नरों में।

जिस शृंगी का अवतरण ही यूँ हुआ–'माँ बनती है बस विनोद में अक्षत कोख कुमारी' और फिर योग साधक, ब्रह्मचारी विभाण्डक प्रसव हुआ, जब ऋष्यशृंग का, हुई अप्सरा ओझल, तो शिशु–रक्षा कैसे हो, रहते इसी सोच संशय में, और फिर शिशु को पालने की सारी जिम्मेदारी स्वयं ही उठाते। शृंगी नाम भी इसी पावन पोषण के कारण कवि मानते हैं–''नहलाते, फिर केश गूंथते जैसे शृंग हिरण के, इसीलिए तो ऋष्यशृंग हैं। अपने प्रथम अंक में कवि ने ऋष्यशृंग के जन्म और नामकरण का वर्णन करने के क्रम में परियों की छलिया प्रवृत्ति और नारी मन की भावना के रहस्य खोलने की कोशिश की।यहाँ नारी के प्रति कवि और यह पवित्र भाव भी द्रष्टव्य है कि ''नारी तो है कमल, पंक भी जिससे शोभित होता।'' कथा विस्तार के क्रम में अगले अंक में डॉ. अमरेन्द्र ने वैरागी ऋषि के अनुरागी होने के कारणों का वर्णन किया है।उल्लेखनीय है–ऋष्यशृंग की कथा दो प्रकार के जीवन दर्शनों के अन्तर्द्वन्द्वकी कथा है।निषेध प्रधान और स्वीकार प्रधान दो तरह की जीवन–दृष्टियों का संघात है और इसका निष्कर्ष है कि वर्जन प्रधान, निषेध प्रधान, प्योरिटन एवं प्राण विरोधी, रस निग्रही दर्शन अनुर्वर और बन्ध्या होता है, उसके परिवेश में रचनात्मक भूमि बाँझ हो जाती है, उसका अनुशासन कवच उन तंतुओं को क्रूरतापूर्वक मसल देता, जो नये टूसे या श्री कोड़ियाँ बनकर फूटते हैं और सारी सृष्टि कल्पनाशील भावहीन, दग्धप्राण स्थावर दधीचियों के अस्थकान्तार में परिवर्तित हो जाती है।''

ऋष्यशृंग में कवि ने ऋषि के निषेध प्रधान जीवन दृष्टि का स्वीकार प्रधान में न सिर्फ परिवर्तन को दिखलाया है, बल्कि उसकी अनिवार्यता भी स्थापित की है।डॉ. अमरेन्द्र के काव्य चातुर्य ने जीवन का जो दर्शन सामने रखा है, उसे समझे जाने की जरूरत है।'वीर भोग्या वसुंधरा' का प्रमाण हमें मिलता है, तो शांता और ऋष्यशृंग के संवादों के सहारे कवि की पूरी योजना सामने आती है। यूँ फ्लैशबैक के सहारे कवि ने प्रकृति प्रेम, पर्यावरण और वन्य जीवों के संरक्षण और उसके महत्त्व को दिखलाने की चेष्टा की है। यह वन्य जीवों की क्रूरता का ही परिणाम था कि अंगप्रदेश शापित हुआ, लेकिन इस शाप की चर्चा के क्रम में कवि
का अंग के प्रति भाव देखें–

कुछ नहीं समझा, कहो फिर शाप!वह भी अंग पर ही
मृत्यु के हाथों मरेगा किस तरह बोलो अमर ही।

डॉ. अमरेन्द्र ने अंग की माटी की प्रतिष्ठा को पुनर्स्थापित करने, भारतीय जीवन दर्शन को समझने में इस क्षेत्र को समझे जाने की अपरिहार्यता को प्रमाणित किया है।सिर्फ ऋष्यशृंग में ही नहीं, अपने प्रबंध काव्य 'कर्ण' में भी इन्होंने अंग जनपद के ऐतिहासिक महत्त्व को स्थापित करने के साथ यहाँ के

जन जीवन और प्रकृति को भरपूर उभारा और प्रकाश दिया है। आखिर कवि, लेखक, साहित्यकार का यह सामाजिक दायित्व भी तो बनता है कि वह जिस मिट्टी में जन्म लेता, पलता, बढ़ता, जीवन के ऐश्वर्य को भोगता है, उसकी महत्ता को स्वीकृति दिलाने का प्रयत्न करें। डॉ. साहब ने अपने काव्य में यह सफल कोशिश की है।

अपने दूसरे दृश्य में शृंगी परिवर्तन सांसारिकता की स्वीकृति का ललित वर्णन जरा देखें–

चेतना लौटी तो तुम थी, बोध की सारी विभा ले
देहधारी धीर धर की ज्ञान अर्जित को बहा ले
जान पाया नारी नर का भेद पहली बार तुमसे
बज उठा था देह में कुछ अलग सा ही गीत छुम से।

और इस तरह ऋष्यशृंग और शांता के मिलने से सृष्टि का पूर्ववत् मधुर संचालन का क्रम जो चला, उसे 'बीतने को वर्ष कितने, पर रुका मधुमास जमकर' में देखकर हमें कथानक का क्रमिक विकास दिखता है।

आगे के दृश्य में हमें रोमपाद और दशरथ के संवाद के सहारे राजकाज के सफल संचालन की चिंता और उसके कारणों की पड़ताल करती कलम मिलती है। दसों दिशाओं पर शासन करने वाला दशानन अपने अकंटक शासन व्यवस्था के लिए बल से साम्राज्य स्थापित करनेवाला है और ऐसे में अपनों का लोभवश,

भयवश रावण का साथ दिया जाना एक अनिश्चित भविष्य का संकेत है। दशरथ की चिंता है, 'क्यों न आर्य की विस्तृत भू का संकट में पानी हो?' जबकि चारों तरफ ऐसे लोगों की भीड़ है. बिछड़ गये जो अपनी मिट्टी, पानी और हवा से
जोड़ गये जो अपनों को हैं कंचन, रजत जुआ से।

डॉ. अमरेन्द्र की चिंता सिर्फ दशरथ की चिंता नहीं है, जो वह रोमपाद से साझा कर रहे हैं, बल्कि देश का हित सोचने वाले कलमकार की भी चिंता है, जो वह अपने पाठकों से साझा कर रहा है। आज भी प्रजातांत्रिक परिवेश में उभरे पनपे उम्रों का चरित्र कैसा है?राजनीति करनेवालों का स्वार्थ देश, समाज, जाति, धर्म रक्षा, सुरक्षा सब पर किस तरह भारी पड़ रहा है, यह किसी से छुपा हुआ नहीं है, त्रेता में तो एक दशानन था, जिसके बारे में शंका थी–––

जो कैलाश हिला सकता है, कुछ भी कर सकता है
चाहे तो वह सिंधु सरयू को गिरि से भर सकता है।

ध्यातव्य है कि अचल, अटल कैलाश पर ही शिव रहते हैं, जो कल्याणकारी हैं, जब बल का उन्माद कल्याण की पीठिका को समूल हिलाकर विस्थापित दे तो–'महाप्रलय जो देखा है पूर्वज ने, वह फिर ला दे', क्योंकि–'सबकी जड़ में रावण का ही विध्वंसकारी मन है' ऐसे में जरूरत है–'करे काल का सर भेदन, जो प्रलय शीश पर चढ़कर।' इस निमित्त आज फिर से पुत्रेष्टि यज्ञ की जरूरत है। राम की आवश्यकता है। इतना ही नहीं, कवि ने अगले अंक में शांता और ऋष्यशृंग के संवाद के सहारे कथा को आगे बढ़ाने के क्रम में अंग के प्रति अपनी भावना और सोच की एक स्पष्ट रूपरेखा रखी है। जैसा की हमें ज्ञात है कि डॉ. साहब अपनी रचना में अगर अंगिका के प्रति जिस तरह प्रतिबद्ध संवेदनशीलता प्रदर्शित करते रहते हैं, अंग और अंगिका के प्रति जिस तरह सचेष्ट रहते हैं, वह सिर्फ शब्दों में ही नहीं, बल्कि शब्दों के सहारे भावना में भी झाँकने का अवसर देता है। शांता का दशरथ और अयोध्या के प्रति अनुराग सकारण है, लेकिन इस कारण को देश हित का जामा तो सिद्ध कवि ही पहना सकता है। एक तरफ शांते! लेते–लेते नाम अवध का खिला तुम्हारा रूप' तो ठीक इसके बाद दोनों गणराज्यों की पारस्परिकता चंपा तो वह भूमि सरयू तक जिसका है विस्तार और इसी में लिखना है अब अंग देश का एक नया अध्याय' कहकर कवि ने अंग प्रदेश के प्रति अपनी भाव कोमलता प्रदर्शित की है। उनका लक्ष्य है–

''यही समय है जान अंग का पा जाए उत्कर्ष
मुर्झाए चन्दन वन में हो, नव सुवास का हर्ष।
इसीलिए इस चंपा से मन बँधा हुआ निष्काम
इसके दिवस वेद से लगते, उपनिषदों–सी शाम।''

इसमें कवि का अंग प्रेम अपनी पराकाष्ठा पर है और अगर देखें तो ऋष्यशृंग के प्रणयन का दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण है। पहला जो हम देख आए विपरीत परिस्थितियों में व्यवस्था को पटरी पर लाने के लिए एक मर्यादित शक्ति की व्युत्पत्ति के लिए पुत्रेष्टि यज्ञ की अनिवार्यता और दूसरा कवि का अंग प्रदेश के प्रति अगाध प्रेम।

आज की कुत्सित राजनीति, छल–छद्म भरे दाँव–पेंच, प्रतिस्पर्धा की अनैतिकता जैसे कितने ही दुर्गुणों से संचालित है व्यवस्था कि जिसे देख–समझकर कोई भी संवेदनशील नागरिक हाहाकार ही करेगा। कहने का तात्पर्य है कि इतिहास को वर्तमान से जोड़कर देखने, उसे समझने–समझाने और उस पर अपने तर्कपूर्ण विचार रखने का क्रम आगे बढ़ता है, जिसपर कवि ने अगले अंक में बृहत् चर्चा की।

कहानी पुरानी है, मिथकीय है, पौराणिक है। वाचिक परंपरा से निकलकर पलती, बढ़ती, फलती आज तक आती है, जिसमें समय और परिवेश के अनुसार सोद्देश्य परिवर्तनों को नकारा नहीं जा सकता, इसीलिए इसकी तुलना पूर्व के कथावाचकों की कहानी से करना सामने पड़ी परिस्थितियों से नजरें चुराना कहा जाएगा। अतः आवश्यक है आगे के अंक को हम कथा विस्तार से अधिक कवि विचार मानें जानें।

यदि ध्यानपूर्वक देखा जाए, तो अंक पाँच में इस कृति की आत्मा है। यही वह खंड है, जिसमें कवि प्रतिभा सम्मोहित करती है। डॉ. अमरेन्द्र यहाँ खुलकर बोलते, लिखते, सोचते हैं। सोचते क्या हैं?आज के आदमी को यह हुआ क्या है, जो–

अपविद्या की संताने मुँह खोले बनीं बुभुक्षित
विद्या के साधक अपने ही घर में नहीं सुरक्षित।

सामाजिक, राजनैतिक, नैतिक, मानवीय भावना जैसे विषयों पर कवि ने खुलकर चर्चा की है। कहना अनुचित नहीं होगा कि पाँचवें अंक में कवि वर्तमान को सिर्फ जीता ही नहीं, इसे ठोकता, उठाता, उकेरता, सुखाता, बनाता भी है। कवि तटस्थ भाव से, निष्पक्ष होकर जन–जीवन को देखता है। हम भले ही त्रेता की कथा पढ़ सुन रहे हों, लेकिन 'कलियुगे प्रथम चरणे' व्यभिचार, अनाचार, अत्याचार का जो तांडव हम नित्य देखते हैं उसका जीवंत वर्णन हुआ है।

डॉ. अमरेन्द्र की आस्था सांस्कृतिक संस्कारों में है। इतना ही नहीं, आधुनिक विज्ञानविद तर्कों से लड़खड़ाते कर्मकांड को सहजता से तार्किक रूप में ये सँभालते भी दिखते हैं–

कभी प्रश्न तो उठता होगा, शांते तुम्हारे मन में
ऐसा क्या है यज्ञकुंड में, मंत्रों और हवन में
क्या ध्वनियों या उष्माओं से देह बदल सकती है?
बिना क्रिया के शून्य जगत में क्रिया निकल सकती है?

यूँ तो इस शंका से पूर्व ही डॉ. साहब कह आए हैं कि नियत काल में मंत्र पाठ का तन पर वही असर है, लेकिन फिर भी मंत्रों की वैज्ञानिकता और सांस्कृतिक क्रिया–कलापों में अपनी आस्था प्रमाणित करने के लिए इन्होंने प्राकृतिक परिवर्तनों के कारणों को संकेतित किया है। इन्हें चिंता है 'कैसे स्वर्ग यहाँ उतरेगा, जहाँ खड़ा रौरव है' और उन्होंने अपनी इसी चिंता में वर्तमान को

देखा है। समाज में फैले, बढ़े तमाम अराजकता के लिए शासन–व्यवस्था को दोष देकर मुक्त हो जानेवाले बुद्धिजीवियों की लोकचिंता पर प्रश्न उठाती डॉ. अमरेन्द्र की चिंता भारी है– लोकधर्म को अगर लोक ही पालन नहीं करेगा निश्चित है अमृत के फल में विषधर वहीं फलेगा।

लोक चिंता में लोक भागीदारी का पक्ष देखकर कवि कर्म अपने नागरिक कर्तव्य निभाने के साथ–साथ उस चिंता को उत्तरदायी भी बनाता है और साथ की इस सार्थक दिशा पर पाठक मन बिना रीझे कैसे रहे?डॉ. साहब ने इस अंक को कल्पना और यथार्थ का संतुलित संगम ही नहीं बनाया, बल्कि भविष्य की आधारशिला भी रखी। व्यथित मन प्रश्नों से जूझते हुए न्याय और अन्याय जैसे विषय पर चुप नहीं रहता, बल्कि पूछता है–'बिना दंड के न्याय यहाँ पर क्यों न टिक पाता है और खुद ही 'लगता तो है यही अनीति का इसमें भी स्वारथ है'–कहकर विषय की गंभीरता स्थापित कर देते हैं।

कथा का विस्तार, लोक मर्म हेतु चिंतन से पंक्ति–पंक्ति को उद्धरणीय बनाकर डॉ. अमरेन्द्र ने इस अंक में आत्मा डाल दी है। हलाँकि इन्हें विश्वास है–'ऐसा सूर्य दिखेगा, देश काल अपने हाथों से अपना भाग्य लिखेगा' और फिर यह भाग्य कैसा होगा?

ऐसा भाग्य, जिसे रेखाएँ मन से नहीं चलाती
जिसके पर में अंधकार की गतियाँ कभी न आतीं।

'लालच ही यह महातिमिर है' जैसी स्थापना से कवि ने सिर्फ कथा या कंटेस्ट से ही नहीं, बल्कि तकनीकी रूप से भी प्रभावित किया है और इसमें सिर्फ वर्णित कालखंड सिकुड़कर नहीं, बल्कि वर्तमान भी पसरकर प्रकट हुआ है।

कवि का शिल्प अपना है, तो भाषा पाठकों की परिनिष्ठित हिन्दी में 'उबडुभ' 'हाही' 'संघरते' 'हसोते' 'उमताए' 'मोखा' 'आँधी–झकसी–जोर' 'सोरी घर' जैसे शब्दों का लालित्यपूर्ण प्रयोग पाठकों को अपना बनाने में सहयोगी है।

प्रकाशक : समीक्षा, नई दिल्ली

कविता

संजय वर्मा 'दृष्टि'
बलिदानी, भगत सिंह मार्ग
मनावर (धार) म.प्र.

बाराती

पहाड़ों पर टेसू
रंग बिखर जाते
लगता पहाड़ ने
बांध रखा हो सेहरा
घर के आंगन में
टेसू का मन नहीं लगता
उसे सदैव सुहाती
पहाड़ों की आबो हवा
मेंहदी की बागड़ से
आती महक
लगता कोई
रचा रहा हो मेंहदी
पीली सरसों की बगिया
लगता जैसे शादी के लिए
बगिया से हाथ कर दिये हो पीले
भँवरें–कोयल गारहे स्वागत गीत
दिखा प्रकृति भी रचाती विवाह
उगते फूल आमों पर आती बहारें
आमों की घनी छाँव तले
जीव बना लेते
शादी का पंडाल
ये ही तो है असल में
प्रकृति की बाराती
नदियाँ कलकल कर
उन्हें लोकगीत सुनाती
एक तरफ पगडंडियों से
निकल रही इंसानों की बारात
सूरज मुस्कुराया
धरती के कानों में धीमे से कहा–
लो आ गई एक और बारात
आमों के वृक्ष तले
2. धड़कन
धड़कन से पूछता
जुबा नहीं होती तो दिल का हाल
कैसे बयाँ करती
तेरी नजदीकियाँ
बहारों से पूछता बिन हवाओं
कौन रखता
खुशबू का हिसाब
फूल नादँ भौंरे नादाँ
गुंजन कर
किसको देते संकेत
कहीं तुम तो नहीं निकल रही
जब तो आम के मोर और टेसू के फूल
झाँक रहे
टहनियों की खिड़कियों से
लगता वसंत ला रहा
तुम्हारे आने का पैगाम
धड़कन की जुबा भी अब गुनगुनाने लगी
इस मौसम में दिल की धड़कन
बयाँ करती तेरी नजदीकियाँ।

समीक्षा

'रूदादे– सफ़र' उपन्यास

सुधा ओम ढींगरा
101 गाईमन कोर्ट, मोर्रिस्विल
नॉर्थ कैरोलाइना–27560, यू.एस.ए.

पंकज सुबीर एक ग़ज़लकार, संपादक, कथाकार और उपन्यासकार है। कई कहानियों के साथ–साथ पहले तीन उपन्यास 'ये वो सहर तो नहीं', 'अकाल में उत्सव' और 'जिन्हें जुर्म–ए–इश्क़ पर नाज था' बहुत चर्चित हुए हैं। पंकज सुबीर का नया उपन्यास 'रूदादे–सफ़र' चौथा उपन्यास है। यह उपन्यास जिस भूमि पर लिखा और तराशा गया है, उसकी आधे हिस्से की सूखी और आधे हिस्से की गीली माटी है। दोनों हिस्सों को एक साथ लेकर चलना, जिससे कोई हिस्सा कमजोर न पड़े, लेखन कौशल का कमाल होता है। मज़बूती से पकड़कर उपन्यास पाठक को जब अन्त तक ले जाता है, पाठक भौचक्का रह जाता है। अंत में सिहर उठता है। विज्ञान और चिकित्सा जैसे शुष्क विषय और रिश्ते तथा संबधों जैसे भावुक और संवेगों से भरपूर विषय को लेकर उपन्यास रचा गया है। दो विपरीत विषयों का ताना–बाना बुनकर पंकज सुबीर ने पिता और पुत्री के रिश्ते पर एक खूबसूरत उपन्यास लिखा है। माँ और बेटी के रिश्ते पर तो काफी लिखा गया है, पर पिता और बेटी के रिश्ते पर बहुत कम लिखा गया है। पंकज सुबीर ने इस उपन्यास में बखूबी पिता–पुत्री की भावनाओं का चित्रण किया है। चिकित्सा विज्ञान में एनाटॉमी पर भी खूब शोध से लिखा है। उपन्यास में लेखक ने एनाटॉमी, रिश्तों और भावनाओं के ऐसे पैटर्न डाले हैं कि सबने मिलकर उपन्यास को विशाल बना दिया है। चिकित्सा विज्ञान में एनाटॉमी पर लिखा गया यह उपन्यास हिन्दी साहित्य को नायाब तोहफा है।

पंकज सुबीर की किस्सागोई तो हर उपन्यास हर कहानी में कमाल की होती है। इस उपन्यास में भी कहन शैली पाठक को बाँधे रखती है। कहन के साथ–साथ चित्रात्मक विवरण का उत्तम प्रयोग हुआ है, उसी का कमाल है कि एनाटॉमी जैसे शुष्क विषय को मनोभावों की चाशनी में ऐसा मिलाया है कि पता ही नहीं चलता कब भावनाओं में बहते–बहते एनाटॉमी का ज्ञान भी मिल जाता है। यह उपन्यास जिस तरह के शुष्क विषय को केंद्र में लेकर आगे बढ़ता है, उसके लिए बहुत जरूरी था कि लेखक किस्सागोई और कहन शैली में ऐसी सरसता का उपयोग करें, जिससे पाठक की उस शुष्कता का एहसास ही नहीं हो। किस्सागोई किसी भी विषय को सरस बना देती है, पंकज सुबीर के पास किस्सागोई की कला है, जिसका उपयोग कर इस उपन्यास को रोचक और अंत तक उत्सुकता जगाए रखनेवाली कृति पंकज सुबीर ने इसे बना दिया है।

डॉ. राम भार्गव और डॉ. अर्चना भार्गव के माध्यम से लेखक ने पिता–पुत्री के रिश्ते को बड़ी शिद्दत से अभिव्यक्त किया है। भावनाएँ रिश्ते बड़े सरल होते हैं, पर उनकी अभिव्यक्ति इतनी सरल नहीं होती। इस उपन्यास का कथ्य भी सरल है पिता पुत्री का रिश्ता पर इसने कई जटिल समस्याओं को सुलझाया है और कठिन परिस्थितियों का मुकाबला किया है। हालाँकि पंकज सुबीर के बाकी उपन्यास जटिल काम और ऊबड़–खाबड़ धरा पर खड़े हैं, जबकि 'रूदादे–सफर' की धरती समतल है। घटनाओं की भरमार और उतार–चढ़ाव नहीं और न ही कई अन्तरकथाएँ चलती हैं। जो कथा व पात्र साथ चलते हैं, वे कथ्य की बुनावट और आकार देने में सहयोगी बनते हैं। ऐसा उपन्यास लिखना कठिन होता है, जिसमें दो चुनौतीपूर्ण विषयों को सहजता से वर्णित किया जाए। पंकज सुबीर के पहले तीन उपन्यासों के विषय काफी जटिल थे। 'रूदादे–सफ़र' रिश्तों की ठंडी बयान का झोंका लेकर आया है।

लेखक ने पिता–पुत्री के प्यार में माँ को अलग–थलग नहीं होने दिया। बल्कि माँ के गुस्सेवाले स्वभाव के बावजूद बेटी अर्चना की नजरों में माँ की छवि डॉ. राम भार्गव बहुत गरिमामय बनाते हैं। माँ के बारे में बेटी को बताते हैं–'हम वही बनते हैं, जो हमें हमारी जिंदगी शुरू के बीस–पच्चीस वर्षों में बनाती है, हमारा स्वभाव, हमारी आदतें, हमारी पसंद–नापसंद, सब कुछ हमारे जीवन के शुरू के पच्चीस सालों में तय हो जाता है। तुम्हारी मम्मी वही है, जो उनको जिंदगी ने बना दिया है। वे अपनी मर्जी से ऐसी नहीं हुई। जब भी कोई हमेशा कड़वा बोलता है, तो असल में वह हमको कड़वा नहीं बोल रहा होता है, जिंदगी ने उसके साथ जो अन्याय किया है, वह उस अन्याय के प्रति अपनी प्रतिक्रिया दे रहा होता है। वह अपने आप में नहीं होता है। हम यह समझ लेते हैं कि यह कड़वाहट हमारे प्रति है, जबकि हम अगर ध्यान से देखेंगे तो पता चलेगा कि वास्तव में ऐसा कुछ नहीं है। पुष्पा भार्गव यानी अर्चना की माँ के तेज स्वभाव और कड़वा बोलने की कमी को कितनी खूबसूरती से डॉ. भार्गव ने अपनी बेटी के सामने रखा है। अक्सर लेखकों से ऐसी चूक हो जाती है कि एक का प्यार दर्शाते हुए दूसरा साथी खलनायक या खलनायिका बन जाता है। पंकज सुबीर ने रिश्तों में बहुत संतुलन रखा है। उपन्यास का प्रारंभ जहाँ से होता है, वहाँ ऐसा लगता है कि यह भी एक माता, पिता के अलगाव का दंश झेलनेवाली बेटी की कहानी है, जिसमें सारी नकारात्मकता माँ के हिस्से में रखी जानी है। लेकिन जैसे–जैसे उपन्यास आगे बढ़ता है, वैसे–वैसे पाठक रिश्तों की नयी व्याख्याएँ, नई परिभाषाएँ सीखता है, समझता है। रिश्तों का समीकरण बिल्कुल नए रूप में पाठक के सामने आता है। पिता और पुत्री के बीच जो कोमल रिश्ता है, एक–दूसरे को समझने की समझ से भरा संबंध है, उसके कारण माँ अलग–थलग नहीं हो जाती। उपन्यास में माँ का पात्र जो प्रारंभ में पाठक के मन में एक शंका पैदा करता है, वह अंत तक आते–आते पाठकों का प्रिय पात्र हो जाता है, बावजूद इसके कि यह पिता और पुत्री की कहानी है।

उपन्यास अकेलेपन की भी नए सिरे से व्याख्या करता है। वह अकेलापन जो अर्चना के जीवन में है। अर्चना का प्रेम परवान नहीं चढ़ता और माँ की मृत्यु के बाद वह पिता के अकेलेपन की ख़ातिर शादी नहीं करवाती। संगीत का शौक उसके अकेलेपन को भरता है। लेखक के कहन कौशल ने उसका भी बहुत सुंदर चित्रण खींचा है–एकाकीपन अपने आप में उदास और भूरे रंग का होता है, उस पर इसमें अगर अतीत के पन्नों से रिस–रिसकर आ रही स्मृतियों का धूसर रंग भी मिल रहा हो, तो यह उदासी बहुत बेचैन कर देने वाली हो जाती है। अर्चना को ही पता है कि पूरे समय गाने सुनकर, घर में

संगीत की उपस्थिति रखकर वह अपने आपको भ्रम में रखने का प्रयाग कर रही है कि वह अकेली नहीं है। मगर जब आप अपने ही मन को भुलावे में रखने की कोशिश करते हैं, छलावा देने का प्रयास करते हैं, तो आप शत–प्रतिशत मामलों में असफल सिद्ध होते हैं। आपका मन हमेशा आपसे एक कदम आगे ही चलता है। बस आपकी हर चाल समझता है। आप उसे भुलावा देते हैं और वह भुलावा खा जाने का भुलावा आपको देता है। ...मन कितने गह्वर है इसके अंदर, इसकी खलाएँ छिपी हुई है इसके अंदर। जब तक हम जिंदा रहते हैं, तब तक विचारों के कितने सितारे टूट–टूटकर इन ख़लाओं में समाते हैं। अकेलापन के ऐसे कई चित्र इस उपन्यास में पाठक को मिलते हैं। ये सारे चित्र इतनी कलात्मकता के साथ बनाए गए हैं, कि अकेलापन भी एक तरह की रूमानियत से भरा हुआ दिखाई देता है।

यह उपन्यास संवादों के माध्यम से कहानी का बहुत अच्छे से पाठक तक संप्रेषित करता है। संवाद इतनी सहज और बोलचाल की भाषा में लिखे गये हैं कि पाठक उपन्यास को पढ़ते समय अपने आप उस बातचीत का हिस्सा समझने लगता है। पुष्पा जी का कैंसर के अंतिम दिनों में बेटी से संवाद बहुत भावुक कर देता है। जिस तरह पिता, बेटी को माँ की कमियों का कारण और उससे पैदा हुए उसके स्वभाव के बारे में बड़ी मोहब्बत से बताता है, उसी तरह माँ, अर्चना को उसके पिता के स्वभाव और असूलों के प्रति अपनी भावनाएँ बड़े प्यार और आदर से बताती है। बेटी अर्चना को अपने माँ–बाप के प्यार और एक दूसरे के प्रति उनके सम्मान का पता चलता है। लेखक ने बड़े ही सुंदर तरीके से अलग–अलग स्थलों पर इस तरह का चित्रण कर उपन्यास को उदासियों के बीच रोचक और रिश्तों को मर्यादित बना दिया है। डॉ. राम भार्गव और पुष्पा भार्गव अस्सी के युग का दंपति है, उस समय का दाम्पत्य समर्पण, सम्मान और आदर पर टिका था, यही उनका प्रेम था। इज़हार कम होता था, केयरिंग और शेयरिंग में अधिक छलकता था। एक पुत्री के लिए पिता अक्सर रोल मॉडल होता है। पुत्री में पिता की छवि भी कई बार देखने को मिलती है। 'रूदादे–सफ़र' में डॉ. अर्चना अपने पिता डॉ. राम भार्गव का ही रूप है। डॉ. अर्चना का अपने पिता के प्रति निश्छल भावनाओं को दर्शाता यह उपन्यास अपने साथ एनाटॉमी और देहदान जैसे जटिल विषयों को भी उकेरता चलता है। एनाटॉमी एक रूखा विषय है और देहदान एक सामाजिक और नैतिक जिम्मेदारी। दोनों अलग–अलग छोर हैं। रिश्तों और भावनाओं की बौछारों में इन दोनों छोरों को जिस तरह मिलाया और समाहित किया गया है, यह लेखक के वर्षों के अनुभव का कमाल है। देहदान को हमेशा संस्कारों से जोड़कर अलग कर दिया जाता है, पर 'रूदादे–सफ़र' में लेखक ने देहदान की उपयोगिता, उसके महत्त्व तथा उसकी सामाजिक और नैतिक जिम्मेदारी को जिस बखूबी से चित्रित किया है, उसकी तारीफ किये बिना नहीं रह सकती। लेखक ने संस्कारों के महत्त्व को भी कम नहीं होने दिया। उपन्यास में देहदान के कई सारे पहलुओं को उजागर किया गया है, जिनको पढ़ते समय पाठक को देहदान का महत्त्व समझ में आता है। लेकिन यह सरोकार उपन्यास पर कहीं भी थोपा हुआ नहीं लगता या कहीं भी ऐसा नहीं महसूस होता कि देहदान की बात उपन्यास की धारा में शामिल नहीं है। मूल कथा में ही देहदान को इस तरह पिरोया गया है कि पिता और पुत्री के भावानात्मक संबंधों पर लिखी गई इस कहानी में देहदान जैसा सरोकार भी बहुत खामोशी से कहानी का हिस्सा बन जाता है। इस उपन्यास के एक पक्ष की निःसंकोच चर्चा करना चाहूँगी, एनाटॉमी और केडावर (मृत व्यक्ति का शरीर) का ज्ञान जिस सहजता से इसमें दिया गया है, वह बुद्धि और मन को भारी नहीं करता, बल्कि शारीरिक संरचना और शरीर विज्ञान की बहुत–सी जानकारियाँ आसानी से मिलती हैं।

मेडिकल व्यवसाय में बुरी तरह फैल रहे भ्रष्टाचार को भी इस उपन्यास में बड़े शोध के साथ बुना गया है। उल्लेखनीय है कि यह उपन्यास चिकित्सा शिक्षा की पृष्ठभूमि पर लिखा गया है, मुख्य पात्र भी चिकित्सक है, उसके बाद भी यह उपन्यास चिकित्सा जगत् में इन दिनों व्याप्त सभी प्रकार के भ्रष्टाचार पर बात करता है। न केवल बात करता है, बल्कि सप्रमाण पूरी भ्रष्ट व्यवस्था को परत–दर–परत खोलता जाता है। साथ ही चिकित्सा व्यवसाय आनेवाले एक भयावह कल का भी चित्र पाठक के सामने प्रस्तुत करता है। यह चित्र पाठक की आँखें खोल देनेवाला चित्र है।

उपन्यास में एनाटॉमी, केडावर फार्मेलीन, मानव अंग विच्छेदन जैसी बातें शामिल हैं, जिनके कारण उपन्यास के बहुत रूखा हो जाने की संभावना थी। लेखक ने गीतों और ग़ज़लों की मृदुलता का उपयोग कर इस रूखेपन के खतरे को दूर किया है। हिन्दी फिल्म संगीत के स्वर्णिम दौर के कई गीत और कई ग़ज़लें पृष्ठभूमि में गूँजते हैं और कहानी का हिस्सा बनती जाती हैं। ऐसा लगता है, जैसे कठोर पानी को मृदु बनाने के लिए जिस प्रकार विभिन्न सामग्रियों का उपयोग किया जाता है, उसी प्रकार इस उपन्यास में भी पंकज सुबीर ने गानों और ग़ज़लों का उपयोग किया है, उपन्यास में मृदुलता लाने के लिए। कुछ बेहद लोकप्रिय ग़ज़लों का बहुत सुन्दर तरीके से उपयोग उपन्यास को रुचिकर बनाता है। विशेषकर आबिदा परवीन द्वारा गाई गई कुछ ग़ज़लें तो जैसे कहानी का ही हिस्सा बन जाती हैं। बहुत पहले प्रसारित हुए दूरदर्शन के धारावाहिक 'इसी बहाने' में चित्र सिंह द्वारा गाई गई निदा फ़ाज़ली की ग़ज़ल के शेर पर इस उपन्यास का अंत होता है–

अब जहाँ भी हैं वहीं तक लिखो रूदादे–सफ़र
हम तो निकले थे कहीं और ही जाने के लिए...

उपन्यास का शीर्षक भी इसी शेर से चुना गया है...लेखन कुशलता का कमाल है, उपन्यास का अंत बड़ा अप्रत्याशित है। हालाँकि डॉ. अर्चना के बेहोश होकर गिरने के साथ–साथ पाठक भी बेचैन हो जाता है, पर यह अंत उपन्यास को बहुत ऊँचाई प्रदान कर गया है।

कई उपन्यास और कहानियाँ ऐसी होती हैं, जिन्हें पढ़कर जो महसूस किया जाता है, उन भावनाओं को शब्दों में अभिव्यक्त करना आसान नहीं होता, गुलजार के शब्दों में सिर्फ एहसास है यह रूह से महसूस करो... बस यह उपन्यास भी रूह तक पहुँचता है, उसी को झंकृत करता है। यह बेहद संवेदनशील उपन्यास है।

लेखक– पंकज सुबीर, प्रकाशक– शिवना प्रकाशन,
सम्राट कॉम्प्लेक्स बेसमेंट, बस स्टैंड, सीहोर,
म.प्र. 466001, दूरभाष 07562405545

समीक्षा

दो मिसरों में

डॉ. उपमा शर्मा
यमुना विहार, दिल्ली
मो.–8826270597

अपारे काव्य संसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वम् तथावै परिवर्तते।।
अग्निपुराण के इस श्लोक के अनुसार किसी ने कवि की तुलना ब्रह्मा जी से करते हुए ठीक ही लिखा है कि रचनाकर्म और उसकी स्वतंत्रता एक सापेक्ष स्थिति है। रचनाकार अपनी सृजनशीलता में स्वतंत्र होते हुए भी यथार्थ स्थितियों से संबद्ध रहता है। उसकी स्वतंत्रता का अर्थ है–व्यापक मंगल विधान के लिए संकल्पशील
होना, अपने युग की जटिलतम समस्याओं से लोगों को परिचित कराना और गतिरोधी शक्तियों का साहसपूर्वक सामना करते हुए निर्भीक भाव से आगे बढ़ना। इन्हीं सब विशेषताओं से परिपूर्ण मनीष 'बादल' इक्कीसवीं सदी के महत्त्वपूर्ण ग़ज़लकार है। दो मिसरों में उनका पहला ग़ज़ल संग्रह अवश्य है, लेकिन पुस्तक पढ़ने से यह निश्चित हो जाता है, उनकी ग़ज़ल के प्रति साधना पुरानी है। संग्रह की भूमिका प्रोफेसर वशिष्ठ अनूप, लक्ष्मी शंकर बाजपेई, आलोक त्यागी, अंजुम रहबर, डॉक्टर अंजुम बाराबंकी जैसे प्रबुद्ध जन ने लिखी है। इन प्रबुद्ध जनों का लिखना ही इस बात का द्योतक है कि इस संग्रह की शिल्पगत कसावट कितनी परफैक्ट (यथार्थ) होगी।

इस पुस्तक को सुरेन्द्र शर्मा, अशोक चक्रधर, तेजेन्द्र शर्मा सरीखे रचनाकारों का आशीर्वाद पहले ही प्राप्त है। अशोक चक्रधर जी मनीष बादल के लिए कहते हैं–''मनीष बादल को अभी बहुत आगे जाना है, मैं हमेशा उनकी अगवानी में खड़ा मिलूँगा।'' जब कोई ग़ज़ल का व्याकरण न जानते हुए भी उस संग्रह को अपने आशीर्वाद से नवाजे, फिर उस संग्रह की लोकप्रियता का अंदाजा लगाया जा सकता है। सुरेन्द्र शर्मा जी लिखते हैं–''मैं ग़ज़ल के व्याकरण का तो बहुत जानकार नहीं हूँ, पर मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि मन को छूनेवाला लिखते हो और बहुत शीघ्र तुम्हारी गिनती देश के श्रेष्ठ ग़ज़लकारों में होने जा रही है।''

कोई भी रचना जब अनुभव और धैर्य की भट्टी में तपती है, तब ही उसका निखार बढ़ता है। रचनाकार जब अपनी रुचि के अनुसार विश्व को परिवर्तित करता है, तो उसकी रचनाओं में और पार्श्व के गहरे काले रंग भी यथार्थ जीवन से ही प्रेरित होते हैं। मनीष भी ऐसे ही गंभीर यथार्थवादी शायर हैं, जिनके पाँव वर्तमान की धरती पर और आँखें भविष्य के क्षितिज पर लगी हुई हैं। मनीष की ग़ज़लें थके हुए मनुष्य के लिए सिर्फ विश्रांति भर ही नहीं है, अपितु आगे बढ़ने के लिए उत्साहित भी करती हैं। यथा–
ख़यालों के बदलने से भी होती हैं नई सुबहें
फ़क़त सूरज निकलने से सवेरा तो नहीं होता।

मनीष की जिजीविषा उन्हें कभी हारने नहीं देती। अँधेरे को चीर रोशनी की सुनहरी किरणों की प्रतीक्षा कर वह बढ़ती ही जाती है अपने अगले पड़ाव की प्रतीक्षा में। यह आकाश की ऊँचाई छूने को तत्पर दिखती है। उनकी जिजीविषा यही सिखाती है कि पंख काटने को तत्पर कितने ही बाज क्यों न बैठे हों, लेकिन उड़ने का प्रयास कभी नहीं छोड़ो।

''पर कटे पंछी का यारों हौसला तो देखिए
उड़ नहीं पाता है लेकिन फड़फड़ाता है बहुत

सीने में उसकी आग है जिन्दा अभी, मगर
दुनिया को लग रहा है शरारा नहीं है वो

'बादल' गमों के कुछ दिनों में छँट ही जायेंगे
ये सोचकर किसी को पुकारा नहीं है वो।''

सर्जक का तात्कालिक रिश्ता प्रकट रूप से समाज से ही होता है और उसकी झलक उसके लेखन में परिलक्षित होती है। मनीष के सृजित समाज का फलक भी बेहद विस्तृत है। अधिकतर ग़ज़लें सामाजिक सरोकार को समर्पित हैं, लेकिन पूरे संग्रह के कैनवास पर विषयों के विविध रंग सृजित हुए हैं। प्रकृति से लेकर विभिन्न विषय, साथ ही ईश्वर का होना भी एक सोच के रूप में ग़ज़लों में विद्यमान है। लेखन वही सफल होता है, जो आम जन के अनुभवों से बुना जाये। मनीष ने परकाया प्रवेश कर आम जन के भाव संगृहीत करने में पूर्ण सफलता पाई है।
''जब से देखा भागते बच्चों को रोटी के लिए
आसमाँ पर तब से बे–मौसम ही बादल छा गए

बात लड़की देखने की वो ये कहकर टालता
कौन–सा कोई पर–ए–सुर्खाब मेरे पास है।''

भारतीय वाङ्मय में नारी के लिए अनेक नाम प्रचलित हैं, जिसके माध्यम से हमें नारी के विभिन्न पक्षों का बोध होता है। नारी शब्द में ही शक्ति, सौंदर्य एवं शालीनता तत्त्व समाहित होते हैं। नारी का प्रत्येक रूप वन्दनीय है, परन्तु माँ इस संसार का सबसे प्यारा शब्द है। माँ की तुलना ईश्वर से की जाती है। माँ सृष्टा होती है। माँ सिर्फ माँ होती है। उसे जाति–मजहब तो बहुत दूर की बात है, सिर्फ इंसानों की परिधि में भी नहीं बाँधा जा सकता। मनीष ने माँ को समर्पित बहुत ही खूबसूरत शेर कहे हैं–
''सँभाला कोख में हमको माँ ने है पूरे नौ महीने तक
ये ममता माँ की हम सब पर हमेशा की उधारी है

एक बकरी दूध पिल्ले को पिलाती, बन के माँ
खास भी है पाक भी, पर खून का रिश्ता नहीं।''

आधुनिकीकरण के इस दौर में रिश्तों और समाज पर बाज़ार तेजी से हावी होता जा रहा है। जीवन का प्रेम और मिठास आपाधापी की दुनिया में कहीं खोती जा रही है। सिर्फ रिश्तों पर ही नहीं, घर के चूल्हे से आती उन पकवानों की खुशबू पर भी बाज़ार बाद तेजी से हावी होता जा रहा है।

इसमें कोई दो राय नहीं कि तेजी से बदलते इस दौर ने मनुष्य की उम्र के हर पड़ाव को प्रभावित किया है। अगर बाल्यावस्था की बात करें, तो बचपन खो गया है या कहें कि आज के दौर में बचपन जैसा कुछ रह ही नहीं गया। ऐसे में मनीष के इन शेरों से भारतीय संस्कृति और बच्चों के भोले बचपन की सौंधी खुशबू आती है।

''वो आलीशान होटल को यक़ीनन मुँह चिढ़ाती है
उबलते चाय की खुशबू जो उस ढाबे से आती है

मेरे बढ़ते हुए बच्चों में भोलापन अभी तक है
मुझे चिंता इसी की है. इसी पर नाज़ भी होता

बच्चे लंदन में हैं सेटल, फक्र से कहते पिता
पर घिरे अंदर ही अंदर मोह के तूफान में

गाँव का है हाट छूटा, सिल की चटनी भी नहीं
खोजते हम स्वाद जाकर मॉल की दुकान में।''

मनीष की ग़ज़लों में सत्ता की चालाकियाँ और षड्यंत्र तथा मध्यम वर्गीय परिवार की परेशानी को उजागर करती हैं, साथ ही हमारी सामाजिक समस्याओं और सवालों को उनकी जटिलता और जनपक्षीय नजरिए सहित बखूबी व्यक्त करती है।

''फाइलों में ही बँटते रहे अन्न और
सब गरीबों को मिलते निवाले रहे

पूछती ख़ाली मेरी जेब हुकमरानों से
क्या से क्या हो गए हालात, खुदा खैर करे।''

ग़ज़लगो की इस पीड़ा को गहराई से समझो, तो यह आज के वक्त की कठिन सच्चाई को स्पष्ट निष्कर्षित करता है। जहाँ तक दृष्टि जायेगी, वहाँ तक स्वार्थ की सिद्ध स्थली ही नज़र आयेगी।

समाज में फैले दोगलेपन और चालाकियों का प्रभाव हर वर्ग पर पड़ता है। साहित्य जगत भी इससे अछूता नहीं। अपने सूख चुके वैचारिक ठूँठ पर बैठ चापलूसी और चाटुकारिता के पंखों पर बैठे साहित्य की वैतरणी पार करनेवाले सामन्ती कवियों और साहित्यकारों को कड़ी फटकार लगाने से बादल को कोई हिचक नहीं है। वो ऐसे कवियों की जमात में शामिल होने से सख्त परहेज रखते हैं।

''जुगनू जैसा कम चमकेगा, जल्दी ही मर जायेगा
किंतु न माथा टेकेगा वो सामन्ती दरबारों में।''

ग़ज़ल के कहन में किस तरह कथ्य को रदीफ से पकड़ा जाता है, इसका कौशल संग्रह में हर जगह दिखाई पड़ता है। जिस तरह के भाव और विचार सामने आते गये उसी के अनुरूप कथ्य को उसी शैली में विस्तार दे मनीष ग़ज़ल कहते हैं। बड़ी बातों को सहजता से कह देने का हुनर मनीष में बखूबी नजर आता है। इन ग़ज़लों का एक सुखद पक्ष यह भी है कि दुर्गेश उपाध्याय और मोनिका साईं ने इन ग़ज़लों में सुरों की खोज की है। इन्होंने मनीष की कई ग़ज़लों को न सिर्फ संगीतबद्ध कर सुर–ताल से सजाया है, अपितु अपनी सुमधुर आवाज़ भी दी है। कानों में रस घोलती ये ग़ज़लें मन को सहज ही छू जाती हैं।

ग़ज़ल की भाषा ग़ज़ल को अभिव्यक्ति देने का सिर्फ एक माध्यम ही नहीं, बल्कि वह ग़ज़ल कहनेवाले के व्यक्तित्व की सटीक पहचान भी होती है। मनीष की ग़ज़लों की भाषा गूढ़ता और क्लिष्टता से इंकार करती है।

संभवतः यह उनके व्यक्तित्व की बेबाकी और खारापन ही है कि संग्रह की तमाम ग़ज़ल एक निष्कपट, निष्कवच और निडर भाषा में लिखी गई हैं। कहते हैं नये प्रयोग किसी भी विधा को समृद्ध करते हैं। मनीष ने अपनी ग़ज़लों में भाषा का मिथक तोड़ते हुए हिंदी, उर्दू, अंग्रेजी शब्दों का बखूबी इस्तेमाल किया है। यह शब्द इतनी सहजता से प्रयोग किये हैं कि पढ़कर लगता है इनकी जगह पर कोई और शब्द शायद ग़ज़ल को वो खूबसूरती न दे पाता। बहुत से कवि अपने को प्रगतिवादी कहते हैं, पर उन्होंने देश और मजहब के जैसे ही भाषा का भी बँटवारा कर लिया है। ग़ज़ल ग़ज़ल है, उसे हिंदी, उर्दू के शब्दों की परिधि में क्यों बाँधना?आज आम बोलचाल की भाषा में कुछ उर्दू और अंग्रेजी के शब्द दूध में शक्कर के जैसे घुल–मिल गये हैं। ये सर्वत्र पाठक को अनूठा स्वाद देते हैं। ऐसे में भाषा विशेष से परहेज मुझे तो समझ नहीं आता। स्वयं को व्यक्त करने के लिए उन्होंने भाषा का इस्तेमाल एक सशक्त और मारक अस्त्र के रूप में किया है। मनीष बादल में जहाँ अनुभूति की गहराई है, जीवन–दृष्टि की नवीनता है, वहीं भाषा और अनुभवों को ग़ज़ल में पिरोने की अद्भुत कला है। आम बोली–बानी में रचे बसे शब्दों को जिस खूबसूरती से इस्तेमाल किया गया है। वह शिल्प के स्तर पर बेहद कारीगरी का उदाहरण है।

''हम कहाँ कहते हैं तुमसे नोटरी से लिख के दो
हम तो कसमें प्यार की केवल जुबानी माँगते

मेरी फाइल आपके टेबल पर स्वीकृति को रखी।
बात मैंने डाल दी है आपके संज्ञान में

मैंने देखा है अँधेरा दिन में भी अक्सर यहाँ
पॉजिटिव इक सोच चाहूँ मैं सहर के वास्ते।''

दुष्यंत की परंपरा को निभाते हुए हिंदी ग़ज़ल में आजकल बेहतर काम हो रहे हैं। मनीष बादल भी उसी परंपरा को पूरी प्रतिबद्धता से निभाते हुए कथ्य और कहन की कसौटी पर खरे उतरते हैं। यह संग्रह समय की विसंगतियों और सच्चाइयों को बेबाकी से कहता है। वो अपनी काव्य चेतना और सरोकार को लेकर बेहद संतुलित रहे हैं। हिन्दी ग़ज़ल की लोकप्रियता इस समय शिखर पर है। यह इसलिए संभव हुआ कि विधा में गंभीर काम करनेवाले साधक अपनी पूरी रचनात्मक ऊर्जा के साथ लगे हुए हैं। मनीष बादल ऐसे ही महत्त्वपूर्ण ग़ज़लगो है। मेरा ध्रुव विश्वास है सहज, सरल शब्दों में गहरी बात कहते हुए ये ग़ज़लें पाठक के मन–मस्तिष्क को अवश्य उद्वेलित करेंगी।

पुस्तक : दो मिसरों में, ग़ज़लगो मनीष बादल
प्रकाशक, मंजुल पब्लिशिंग हाउस, मध्य प्रदेश

समीक्षा

नौ रुपये बीस पैसे के लिए– अपनी ही पहचान की तलाश में

सुरेन्द्र प्रजापति
पो0–बलिया, थाना–गुरारू, जिला–गया
मो.–9006248245

जनवादी मूल्यों को प्रकाशित करती, उत्पीड़न के खिलाफ एक स्वतंत्र आवाज है शैलेन्द्र चौहान की कविताएँ। 2022 दिसंबर की आखिरी तारीख में शैलेन्द्र चौहानजी की बहुचर्चित कविता संग्रह 'नौ रुपये बीस पैसे के लिए' मुझे सस्नेह उपहारस्वरूप मिला। बिल्कुल नवीन और तीसरा संस्करण। वैसे शैलेन्द्रजी की कविताएँ उस डिजिटल होती दुनिया में ऑनलाइन विभिन्न प्लेटफॉर्म पर पढ़ी है। इनकी कविताओं में जो वास्तविक तस्वीरें उभरकर सामने आती हैं, उसे बिल्कुल नजदीक से महसूस ही नहीं किया, बल्कि भोगा भी है। आज भारत जैसे लोकतांत्रिक देश में शोषण, उत्पीड़न से जूझते हुए मजदूर, किसान, वंचित, कमजोर, असहाय, शोषक–शासक वर्ग की स्वार्थ–लिप्सा, अन्याय, अत्याचार, भूस्वामियों का उत्पीड़न, दबंगई, रंगदारी के विरुद्ध जिस शिद्दत के साथ वे अपनी कविताओं में आक्रोश के स्वर को बुलंद करते हैं, वह जनवादी चेतना का मूल तत्व है। सुपरिचित जनकवि शील उक्त पुस्त की भूमिका लिखते हैं–''वामपंथी राजनीति, शोषण, दोहन, उत्पीड़न से जनसामान्य की मुक्ति, प्रगति और विकास के लिए सतत संघर्ष करती है, इसी सच को समृद्ध और प्रस्फुटित करती है शैलेन्द्र चौहान की कविताएँ। संग्रह की पहली ही कविता 'संकल्प' की कुछ पंक्तियों को देखा जा सकता है–

''जब गड्डर की बोली लगेगी
हो सकता है लोग उसकी भी बोली लगाएँ
वह कुछ नहीं समझेगी
उसकी समग्र चेतना एकाग्र होकर
लकड़ियों में सिमटी रहेगी।''

यहाँ कविता संवाद करती है। बाजार से, बाजार के नैतिकताविहीन मूल्यों से। आज की भयावह स्थिति में वस्तुओं की बोली बाद में लगती है, लेकिन उससे पहले लालच, तृष्णा, वासना, कुदृष्टि, शरीर के कोमल अंगों की बोली पहले लगती है। यह बाजार सत्ता के केन्द्र में बैठा इजारेदार स्वामी है। जो जब–जब मनमाने तरीके से आम जनों की विवशता का दोहन कर रहा है, लूख–खसोट कर रहा है। आम मजदूर, जो जीतोड़ परिश्रम करके पसीना बहाते भवन का निर्माण करता है, पुल बनाता है, रातों में जागकर मशीन चलाता है, उसे अच्छी नींद सोने के लिए बिस्तर भी मयस्सर नहीं होता। वह नींद में होते हुए भी बेचैन हो जमीन पर हाथ–पैर फेंकता है और उसकी शरीर को तमाम व्याधियाँ भी सताती हैं। हमारा अन्नदाता किसान फसल उगाता है, लेकिन स्वयं भूखा सो जाता है। इसी सच्चाई को बयान करती उनकी कविता 'मेरे गाँव का आदमी' की चंद पंक्तियाँ देखिए–'मेरे गाँव का आदमी किसान है, मजदूर है, वह चिड़ियों सा फुदकता नहीं, पोस्टमैन का इंतजार नहीं करता, क्रांति की डींगें नहीं हाँकता, उसको बिस्तर नसीब नहीं होता, वह सोता है जमीन पर, मेरे गाँव का आदमी।'' इस कविता में सिर्फ कवि के गाँव का आदमी ही नहीं, बल्कि समस्त भारतीय गाँवों के किसान मजदूर की वास्तविक तस्वीर है, जो कमोवेश इसी तरह है या इससे बदतर है। इस संग्रह की सभी कविताएँ 1972 से 1982 के कालखंड को नापती है। तब पूँजीपतियों, भूस्वामियों के अतिवादी आतंक के विरोध में नक्सलवादी आंदोलन का उदय हुआ और वहीं से जनवादी चेतना को बल मिला। लेकिन उसे दबाने के लिए शासक वर्ग किस क्रूरता के साथ दमनकारी नीतियों को चलाकर गरीब किसानों, मजदूरों, वंचितों की आवाज को खामोश करने की षड़यंत्र रचता है। संग्रह की एक कविता 'नासिक गोलिकांड पर' की पंक्तियों को देखिए–माँग रहे गन्ने की कीमत ठाँय–ठाँय भीड़ में दबती है चींखें मूलभूत अधिकारों को दम भरनेवाला शासन निष्कलंक लोगों का लहू हाथ धोता है कहना न होगा कि वर्तमान सत्ता में विराजमान शासक अपनी नाकामियों को छिपाने के लिए गरीब, सरल और निर्दोष लागों के रक्त से ही अपना हाथ धोते हैं। शैलेन्द्रजी की कविताओं में स्त्री चरित्र पूरी सहजता से उभरते हैं। चंद्रकांता महरी है, अपने बच्चों के भविष्य के बारे में सोचती है। वह पति से मार खाती है, गाली सुनती है, लेकिन व्यवस्था पर सवाल भी उठाती है। वह चाहती है–गरीबी–अमीरी का फर्क मिटना चाहिए। मजदूरों के गरीब बच्चे गंदे और जहरीले पानी में खेलते हैं, नहाते हैं और सहज भाव से पीते भी हैं, लेकिन बीमार नहीं पड़ते। यहाँ दूषित पानी उसके आनंद का पर्याय हैं जहाँ से अपना भविष्य खोज रहे हैं। कुछ पंक्तियों को देखिए–

''और ये बच्चे बड़े हो रहे हैं
ये बच्चे बहुत शैतान हैं
आलीशान इमारतों के नीचे ये बच्चे
अपना भविष्य खोज रहे हैं।''

गाँव, कस्बों में तमाशा दिखाते जादूगर के सम्मोहन में ये बच्चे नहीं फँसते, जो गर्दन काट देता है या हवा में उड़ा देता है। जबकि असली बाजीगर तो वे हैं, जो जेबों को कतर देते हैं। निम्न पंक्तियों को देखा जा सकता है–

''असली बाजीगर तो वो तमाशा दिखाते हैं
कि लोगों की जेबें अपने आप खाली हो जाती हैं
फिर तब्दील होने लगते हैं झुर्रियों में।''

कवि शैलेन्द्र जी की कविताओं में रोटी के लिए संघर्ष करते चरित्रों का फलक काफी बड़ा है। 'कविता का लड़का' शीर्षक कविता में एक ऐसा चरित्र झाँकता है, जो आज भी दूरदराज के गाँवों में अपने पेट के लिए, अपने बचपन को नीलाम कर श्रम करने को विवश है। यथा–

''मेरी कविता का लड़का
कम अक्ल कम दिमाग का लड़का
हाथ पैरों में लगा मैल
फटी कमीज गमछा लपेटे।''

यह गमछा सिर्फ उस लड़के का लिबास नहीं है, बल्कि कविता को समाज के गिजगिजेपन की याद दिलाता है। आज के डिजिटल युग में भी किसान अपनी भलमनसाहत के चलते ठाकुरों और पटवारियों की भेंट चढ़ रहा है। गरीब भोलाभाला किसान या खेतिहर मजदूर खेतों में खटते हुए भरपेट भोजन का सपना देखता है। वह कर्ज लेता है, लेकिन चुका नहीं पाता। अतः खेत बिक रहा है, उसके बच्चे निकम्मे हो रहे हैं। और अंत में वह यही सोचता, इन पंक्तियों को देखिये–''जबतक जीना है तबतक खटना है, यही तो जीवन है।'' इन जीवंत पंक्तियों में कवि जीवन की विद्रूपताओं को खोखली सामाजिक रूढ़ियों और विसंगतियों को बड़े साहस और धैर्य के साथ चित्रण करते हैं। आज बहुत कुछ अनदेखा किया जा रहा है। प्रकृति के अंतहीन दोहन के साथ ही इंसान उसकी पहचान को भूलता जा रहा है। उसमें वृक्ष चिनार, देवदार, सागवान, पीपल, गौरैया, चील आदि दुर्लभ जन्तु एवं वनस्पतियों का अस्तित्व मिटता जा रहा है। इसके बावजूद हम कौन सा बसंत मना रहे हैं। सबकुछ यूँ ही बीत रहा है। त्यौहार, उत्सव, सावन, बसंत; लेकिन उसका आकर्षण या हर्षित करनेवाला सान्निध्य या विस्तार कहाँ, जो जीवन को सराबोर कर दे। बीतते हुए बसंत की पंक्तियाँ देखिए–

''मैं भी अजीब भुलक्कड़ हूँ
भूल जाता हूँ बहुत सी बातें
और आलसी इतना कि
देखता नहीं आसपास तक।''

'सभ्यता...संस्कृति' कविता में कवि शैलेन्द्र उज्ज्वल भारतीय संस्कृति को याद करते हुए वर्तमान व्यवस्था पर चुटकी लेते हैं। यह देश भारत जो विश्व शांति के प्रतिनिधित्व की बात करता है। वैभव, कृतियों का धरोहरवाला देश विश्वगुरु बनने की ओर देख रहा है, लेकिन इस भारत देश में जनता का रक्षक ही अपनी पशुवत् प्रवृत्तियों का नंगा नर्तन कर रहा है। हमारी सरकारें या हमारे जन विकास की बात करते नहीं अघाते। परिवर्तन की बात करते हैं, शक्ति प्रदर्शन की बात करते हैं, लेकिन यह भी सच है कि इसी देश में जातिभेद, नस्लभेद, लिंगभेद का हवाला देकर गरीब–गुरबों का घर जलाया जा रहा है। दिन के उजाले में स्त्रियों का बलात् अपहरण कर उसकी अस्मिता से खेला जा रहा है। इसी संदर्भ में इन पंक्तियों को देखिए–

''सोने की चिड़िया कहलाता था भारत
सभ्यता संस्कृति की अक्षुण्ण परम्परा
अग्रज था मानवता में
क्या हो गया देश का''

समय पूछ रहा है। प्रकृति का सौंदर्य ठहर गया है। प्रत्येक सुवह उजाला उम्मीद से ताक रहा है। अपनी विकास योजनाओं का दंभ भरनेवाला शासन, अपना अधिकार माँगनेवाले दलित, आदिवासियों का दमन करता है। आखिर किस निर्लज्जता के साथ लोगों का खून बहाता है। इन पंक्तियों को देखिए–

''मूलभूत अधिकारों का दम भरनेवाला शासन
निष्कलंक लोगों के लहू से हाथ धोता है।''

शैलेन्द्र जी कविताओं में जड़ता में जकड़े लोगों को जगाने की आवाज है, दु:ख है, पर दीनता में पछताने का नहीं, बल्कि उससे मुकाबला करने का। अब न पहले जैसे सावन की फुहार है, न बसंत की बहार। अब पतझड़ बढ़ता जा रहा है, उसका विस्तार होता जा रहा है। अस्मिता खोती जा रही है। हृदय रेगिस्तान बनता रहा रहा है। फिर भी कवि की संवेदना बची हुई है। 'अस्मिता' शीर्षक कविता की पंक्तियाँ हैं, जिसमें वह एक गरीब औरत से पूछते हैं–''घास–फूस की झोंपड़ी ढिबरी बुझा दी गरीब औरत ने तुम्हारा हर बेटा ईसा मसीह हुआ माँ...।'' सामंतीवर्ग की नजर में गरीब जनता सिर्फ उसके उपभोग की वस्तु है बस। वह उससे बेगारी करवाता है, जी हजूरी करवाता है। भला, उसे ग्रामीण जनता के विकास से क्या सरोकार। आम जनता सर उठाकर जिए जो उसका अपमान। अपने अधिकार की बात करे, तो उसका अपराध है। वो सिर्फ काम करने के लिए पैदा हुआ। यथा गाँव के विकास में तो भतीजे का कत्ल हुआ है, बलात्कार की हुई लड़की है, राहजनी की गई औरत है। सूख रहा, महकता हुआ पानी है। इन पंक्तियों को देखें–

''ये सब बीते कल की बातें हैं–सामने सूख रहा पोखर
उसमें ठहरा हुआ है पानी
जैसे मेरा गाँव।''

शैलेन्द्रजी की कविताओं में मलिन बस्तियों के वंचित, दलित, कामगार, मजदूर और आम लोगों की पीड़ा का संसार है। जो कभी चकित करता है। कभी उद्वेलित करता है। कभी उसके दर्द के वितान को रचकर आत्मविश्वास का बिगुल फूँकता है। इनकी कविताओं में जन है, जंगल है, जमीन है। चिड़िया, आकाश, पेड़–पौधे और प्रकृति का उजड़ा हुआ रूप है। खामोशी में भी पहचान को परिभाषित करती प्रतिरोध की आवाज है।

दृष्टि प्रकाशन, जयपुर

लघुकथाएँ

1. पाप का बँटवारा

डॉ. प्रदीप उपाध्याय, 16, अम्बिका भवन, उपाध्याय नगर,
मेंढकी रोड, देवास, म.प्र. 9425030009

फोन पर डॉक्टर विशाल से बात कर जब पंडित जगतनारायण शास्त्री ने फोन रखा, तो पंडिताइन ने प्रश्न किया–''पंडितजी! यह पूजा तो तीन घंटे की है और आप सभी को इतना ही समय बताते हैं, लेकिन डॉक्टर साहब को आपने एक घंटे में ही पूजन सम्पूर्ण होने की बात क्यों कह दी, जबकि आप ही कहते हैं कि यदि पूजा पाठ विधिपूर्वक न हो, तो यजमान के साथ पंडित को भी पाप का भागी बनना पड़ता है। क्या इस तरह से पाप का बँटवारा कर रहे हैं।'' ''देखो, पंडिताइन! अड़ने को तो में अड़ जाऊँ, लेकिन यदि यजमान के पास इतना समय ही न हो और वह पूजा–पाठ ही न करवाए, तब?
तब क्या! इस तरह से आप दक्षिणा के लालच में बीच का रास्ता निकाल देते हैं।''
''अरे नहीं, भाग्यवान! मेरा उद्देश्य तो यही रहता है कि लोग अपने धर्म, अपनी संस्कृति से जुड़े रहें। चूँकि तीन घंटे की पूजा एक घंटे में मैं स्वयं करवाता हूँ, तब पाप का भागी वह यजमान नहीं रहता, बल्कि यह मेरे हिस्से में चला आता है और ऊपरवाले को जवाब भी मुझे ही देना पड़ेगा, क्योंकि मैं यजमान से दक्षिणा ग्रहण करता है। किन्तु यह भी तो जरूरी है कि लोग धर्म से विमुख न हो, यह मेरा कर्तव्य भी तो है। अपना कर्तव्य निभाने के लिए यदि कुछ पाप मेरे हिस्से आता है, तो वह शिरोधार्य है।''

2. स्याह होते रंग

''इतने बड़े लोग और देखो उनमें घमंड तो नाम भर को भी नहीं कितने सादगी पसंद लोग हैं। घर में कुर्सी नहीं थी, तो खटिया और स्टूल पर ही बैठ गए थे वे लोग।''
''हाँ, सही बात है। सुनील के साहब और उनके परिवार के लोग थे। मुझे तो लगा ही नहीं कि वे कोई पराए लोग हैं। हमने पोहे के साथ बिना दूध की काली चाय भी पिलाई, तो उन्होंने खुशी–खुशी चाय पी ली। कोई नखरे नहीं किए।''
''अरे! वो तो दादा ने बाद में आकर बात बिगाड़ दी। क्या जरूरत थी इतनी दारू पीकर घर आने की। वे लोग चले जाते, उसके बाद आते। कम–से–कम हमारी इज्जत तो खराब नहीं होती। वे लोग समझ गए थे कि दादा दारू के नशे में हैं।''
''हाँ, और नहीं तो क्या। अरे! आ भी गए थे, तो कम–से–कम चुपचाप बैठे रहते। उल्टा–सीधा बोलने और हरकतें करने की क्या जरूरत थी! इतने अच्छे लोगों के सामने हमारी इज्जत उतार दी। वे लोग दादा के आने के बाद एकदम से उठकर भी तो चल दिए थे।''
साहब और उनके घरवालों को कार तक छोड़कर आने के बाद घरवालों की बातें सुनकर भी सुनील चुप था। जाते–जाते साहब ने क्या कहा, क्या नहीं कहा, वह इस बारे में नहीं सोच रहा था। हाँ, अब वह पसोपेश में था कि साहब और उनके परिजनों की सदैव घरवालों के सामने की गई तारीफ को झुठलाए या फिर घरवालों के सामने उनकी उससे भी अच्छी और उजली बन गई तस्वीर स्याह रंग उड़ेलकर धुंधला कर दे।

समीक्षा

अंधियारा है यहाँ : गजल संग्रह

दयानंद जायसवाल
मो. 9931240303

मांगन मिश्र 'मार्तण्ड' अररिया, पूर्णिया बिहार का यह संग्रह समकालीनता की अनुगूंज और उसके प्रभाव को दर्शानेवाला दर्पण है। इनकी ग़ज़लें सकारात्मकता के साथ न केवल आगे बढ़ती हैं, बल्कि उन चुनौतियों की पड़ताल भी करती हैं, जो वर्तमान में उभरी है। ये मूलतः जीवनबोध के कवि हैं। समस्याओं को देखने व परखने की इनकी अपनी दृष्टि है। इनकी ग़ज़लों में रिश्ते, राजनैतिक मूल्यक्षरण तथा मध्यवर्गीय व्यक्तियों के संघर्षों की छवि देखी जाती है और मानवता के दर्द के साथ–साथ माटी की खुशबू पायी जाती है।

कवि मांगन मिश्र भी मुख्य रूप से गीत एवं ग़ज़लकार ही हैं। इनकी यह चौथी पुस्तक है। ये कहानी तथा यात्रा संस्मरण
भी लिखते हैं। 'संवदिया' पत्रिका के प्रधान संपादक भी हैं। इनकी साहित्यिक भाव–भाषा–शैली हर दृष्टि से परिष्कृत एवं परिभाषित रही है। इस संग्रह में इकहत्तर ग़ज़ले हैं, जिनके हर शेर सारगर्भित और अनुभूतियों से भरे हैं। आज के दौर में हिंदी ग़ज़ल आम आदमी के सुख–दुःख और उसके जीवन की त्रासदियों में उसके साथ पूरी दृढ़ता से खड़ी है। भाषायी दृष्टिकोण से देखें, तो ग़ज़ल अरबी से चलकर फारसी में और फिर उर्दू में और आज हिंदी में विस्तार पा ली है। इतना विस्तार की उर्दू ग़ज़ल को भी एक नया आसमान मिला, सरलता मिली और पाठकों को महत्त्वपूर्ण पड़ाव मिल गया। यही कारण है कि आज ग़ज़ल नगरों से गाँव की ओर बढ़ती जा रही है। आज यह जीवन का आस्वादन और अभिव्यक्ति का माध्यम बन गई है।

मार्तण्ड जी के ग़ज़ल–संग्रह से गुजरते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि ग़ज़लें मन और प्राण से लिखी गयी हैं, जो अपने मिज़ाज में तकनीकी पहलुओं से भी पूर्ण है तथा मानवीय सरोकार में नियति की जटिलता और कुटिलता को सहजता से बयान करने की चाहत में प्रतिबद्ध हैं–

ज़ख्म उसने जो दिया सहता गया
में खड़ा खामोश वो कहता गया
ज़ख्म तो मिलते रहे अब गम नहीं
किंतु अपनों ने दिया ढहता गया
मौन होकर रात–दिन खटता रहा
बाग का सौरभ मगर बहता गया
घोषणा है सब सुखी हों किंतु जो
रह रहा था दुःख में रहता गया।

इन्हीं ग़ज़लों के माध्यम से कवि सामाजिक चेतना तक पहुँचने का प्रयास करते हैं। समाज और रिश्तों के जीवन की प्रतिध्वनि भी इसमें सुनी जा सकती है। ग़ज़लकार की संवेदनशीलता और सुनियोजित चिंतन बार–बार परिलक्षित होता है–

खाँसती माँ और बाबा रो रहा है
टूटे मन से ज़िन्दगी को ढो रहा है
मौज़ बेटा कर रहा है अब नगर में
दाग गिरती बूँद के वो धो रहा है
देह दुखती इस गृहस्थी में कठिन यह
नून–रोटी पेट बाँधे सो रहा है
दिन रुलाता रात हँसती स्मृति सघन ले
बीज दर्दों का यहाँ अब वो रहा है।

कवि की एक निरंतर पीड़ा, जो बार–बार सामने आती है, वह है लोगों के न समझे जाने का एहसास। कभी–कभी जीवन के बारे में दार्शनिकता की बात करते हैं और कई मौकों पर मौजूदा वर्जनाओं के खिलाफ कई तरह से विद्रोह करने की बात करते हैं, तो कई जगहों पर बुनियादी मानवीय मूल्यों के प्रति सम्मान भी पैदा करते हैं। ग़ज़लकार का ध्यान गरीबी, बेकसी, अपराध, भ्रष्टाचार, आपसी विद्रोह और आम लोगों की हर चिंताओं की तरफ भी है। इनकी ग़ज़लें इश्क, हुस्न से बचकर सर्वहारा वर्ग की चिंता करती हैं, क्योंकि प्रायः समाज का हर वर्ग दुःख–दर्द के दायरे में है–

अंधियारा गया है पर क्या लिखें
राग मन का रुका जो अधर क्या लिखें
हर तरफ जुल्म केवल मचा है अभी
इल्म का भी गया अब असर क्या लिखें
कैद सत्ता अभी कौरव के करों
भीम वन में रहा है विचर, क्या लिखें
बाग उजड़े, गए फूल मसले यहाँ
शाख से गम हुआ है भ्रमर, क्या लिखें
प्यास उनकी मिटी किस तरह अब यहाँ
सूख दरिया गया है. बसर क्या लिखें।

————————————————

इंसानियत मरती रही मुखड़े यहाँ सजते रहे
रखते नहीं संवेदना अब लोग इस संसार में
संबंध का ऐसा असर था, लोग जाते हर जगह
अब साजिशें होतीं, रुधिर बहते सदा त्योहार में

इस प्रकार मार्तण्ड जी की ग़ज़लें अधिकतर देश और समाज की हालत पर करारा व्यंग्य करती हैं। ग़ज़ल का हर शेर असर पैदा करता है और पाठक की संवेदना को झकझोर देता है। इनकी ग़ज़लें सामाजिक परिवर्तन में क्रांतिकारी भूमिका निभाने का सशक्त माध्यम है। रचनाकार को हार्दिक बधाई एवं मेरी शुभकामना।

समीक्षा

भारतीय राष्ट्रवाद का क ख ग

दयानन्द जायसवाल
9931240303

यह पुस्तक विजय रंजन जी फैजाबाद, अयोध्या (उत्तर प्रदेश) का यह निबंध संग्रह भारतीय राष्ट्रवाद की अवधारणा का विस्तृत विवेचनात्मक अध्ययन तथा सात्त्विक संस्करण है, जिसमें भारत और भारतीयता की मूल प्रकृति, प्रवृत्ति, संस्कृति, भारतीय राष्ट्रवाद का स्वरूप, शान्तिकामी, रागात्मक, रचनाधर्मी, सर्वकल्याणक, वसुधैव कुटुम्बकम् एवं सर्वे भवन्तु सुखिनः... से समावेशित एवं समेकित स्वरूप में आभाषित है।

राष्ट्रवाद का अध्ययन करना इसलिए जरूरी है कि वैश्विक मामलों में यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। पिछली दो शताब्दियों के दौरान राष्ट्रवाद एक ऐसे सम्मोहक राजनीतिक सिद्धान्त के रूप में उभरा है, जिसने उत्कट निष्ठाओं के साथ–साथ गहरे विद्वेषों को भी प्रेरित किया है। और भी एक बात है यदि आप देश की सीमाओं और उसके संविधान से प्रेम करते हैं, तो आप देशभक्त हैं। यदि आप अपनी पहचान, अपनी संस्कृति धरोहर और अपने इतिहास से प्रेम करते हैं, तो आप राष्ट्रवादी है। अब प्रश्न यह है कि देशभक्ति महान है या राष्ट्रवाद?यूँ तो राष्ट्रवाद को चित्रित करना वास्तव में एक चुनौतीपूर्ण कार्य है। फिर भी पुस्तक में इस विषय पर इनके द्वारा किए गए विवेचन
राष्ट्रवाद को समझने में सहायक है।

लेखक विजय रंजन कहना चाहते हैं कि प्रागैतिहासिक काल से वैदिक संस्कारों के साथ–साथ विशिष्ट भरतत्व सह भा–रतत्व सह भारती–तत्व से इस प्रकार शिवत्व, रामत्व, कृष्णत्व, जिनत्व, बुद्धत्व से समेकित एक विशिष्ट बोधसत्ता, विशिष्ट इयत्ता, विशिष्ट अस्मिता और विशिष्ट संस्कृति का भू सांस्कृतिक मनस्विता वाला राष्ट्र हमारा भारत रहा है। भारत केवल वैश्विक भूखण्ड का एक टुकड़ा या एक देश मात्र नहीं है, वरन् यह एक विशिष्ट आचार–विचार और विशिष्ट संस्कारों से आभरित विशिष्ट भाव्य–सत्ता वाली संस्कृति से सर्वदा समेकित रहा है। संस्कार और संस्कृति यहाँ राष्ट्रवाद से सघन–सहग्रंथित है, इसलिए कि भारतीत्व के सम्प्रभाव से भारतीय मनस्विता में राष्ट्रवादी राष्ट्रधर्म के संस्कार इस सीमा तक यहाँ के जन–मन में गहरे पैठे हुए हैं कि ये हमारी राष्ट्रीय संस्कृति का अंग बनकर एक दूजे से सहग्रन्थित हो गए हैं। इस प्रकार संस्कृति से अतिसघन सहग्रंथन के आधार पर भारतीय राष्ट्रवाद भारतीय सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का पर्याय है।

'भारतीय राष्ट्रवाद क ख ग' को इन्होंने चार भागों में विभक्त किया है। पूर्वार्चिक, मध्यमार्थिक, उत्तरार्चिक और परिशिष्ट। पूर्वार्चिक में इन्होंने भारतीयता का स्वरूप उसके प्रमाणक सांस्कृतिक वैशिष्ट्य एवं सांस्कृतिकता और धर्म के अनुषंग।

भारतीयता के स्वरूप को रमेशचंद्र लाहोटी ने 'भारतायन' में लिखा है–''भारतीय केवल पारिभाषिक नाम अथवा विशेषण मात्र नहीं है। भारतीय होने से जुड़ा है, भारत के वंशज होने की पहचान, भारत माँ की संतान होने का अभिमान, भारती भूमि की मिट्टी से इस शरीर की रचना होने का अहसास, भारतवर्ष की सीमाओं की रक्षा करने का उत्तरदायित्व और भारत का होने के नाते इसके सम्पन्न साहित्य, उदात्त–दर्शन और गहन चिंतन से लगाव। इन सबका मिलाजुला रूप ही भारतीयता है।'' इन्हीं आशय की विस्तृत चर्चा इन्होंने भी की है। मध्यमार्चिक में इन्होंने भारतीय मनीषी, विचारकों के कथनों से राष्ट्रवाद का व्यावहारिक स्वरूप तत्सम्बन्धी कतिपय प्रत्यय, प्रलाभ तथा राष्ट्रवाद की उपेक्षा से कारित हानियाँ आदि उद्धृत किए हैं। पुस्तक के उत्तरार्चिक में लेखक ने भारतीय राष्ट्रवाद एक विशिष्ट प्रत्यय है, इसका विस्तृत उल्लेख किया है। साथ ही भारतीय राष्ट्रवाद से संबंधित संभ्रम की स्थिति आज अनेक विद्वानों में होने लगे, आखिर इसका शिकार कैसे हो रहे हैं, इसकी भी इन्होंने विशद चर्चा की है। इन्होंने यह भी दर्शाने का प्रयास किया है कि राष्ट्रवाद की बाधक शक्तियाँ क्या है, जिससे हमारा राष्ट्रवाद अधोमुखी हो रहा है।

राष्ट्रवाद की परिभाषा और अर्थ को लेकर व्यापक चर्चाएँ होती रही हैं। राष्ट्रवाद की सुस्पष्ट और सर्वमान्य परिभाषा करना आसान नहीं है। यूँ तो राष्ट्रवादको परिभाषिक करना कठिन है, फिर भी इन्होंने जो परिभाषा दी है या विवेचना की है, वह राष्ट्रवाद को समझने में उपयोगी है। स्वामी विवेकानन्द राष्ट्रवाद का आध्यात्मिकरण करने के पक्षपाती थे। हिन्दू धर्म के महत्त्व के कारण ही उन्हें राष्ट्रवाद के समीप ला खड़ा किया। वे हिन्दू धर्म को सब धर्मों का प्रमुख स्रोत मानते थे। उनके अनुसार धर्म व्यक्ति और राष्ट्र को शक्ति प्रदान करता है।

योगी अरविन्द के विचारानुसार हम भारतीयों के लिए सनातन धर्म ही राष्ट्रवाद है, धर्म के साथ यह राष्ट्र गति करता है। भारत आस्था और विश्वास का देश है। बाल गंगाधर तिलक संकीर्ण राष्ट्रवादी भावना का विरोध करते थे। उन्होंने वेदान्त की मानव एकता की धारणा को राष्ट्रवाद के माध्यम से प्राप्त कर विश्व की स्थापना की। वे अन्तर्राष्ट्रवाद को ही राष्ट्रवाद का उन्नत रूप मानते हैं।

लेखक विजय रंजन ने राष्ट्रवाद के आध्यात्मिक पक्ष का प्रतिपादन किया है। इनके अनुसार राष्ट्र एक आध्यात्मिक सत्ता है और ईश्वर की एक अद्भुत अभिव्यक्ति है। ये राष्ट्र को एक गंभीर आंतरिक जीवन से स्पन्दित आध्यात्मिक सत्ता मानते हैं। इन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद की जड़ें भारत के प्राचीन साहित्य और उस साहित्य में साकार हुए अतीत को ढूंढ निकालने का अत्यधिक प्रयास किए हैं। पुस्तक प्रकाशन हेतु हार्दिक बधाई एवं सफलता की शुभकामनाएं।

समीक्षा

'वन तुलसी की गंध'

दयानन्द जायसवाल
9931240303

इस लघु उपन्यास के कथाकार शिवकुमार 'शिव' भागलपुर (बिहार) ने पूरी समग्रता के साथ एक मानवतावादी विचारधारा जमीन पर उतारने का प्रयास किया है, जो समय और समाज का वह आईना है, जिसमें रिश्तों का विद्रूप चेहरा, गिरती नैतिकता तथा दकियानूसी परंपराओं का स्वरूप देखा जा सकता है।

कोई भी उपन्यास जब अपने समय से जुड़ता है, समय की पड़ताल करता है तथा समय की दुखती रग पर उंगलियाँ रखता है, तभी वह सार्थक होता है और साहित्यिक दृष्टि से मान्य होता है।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी कथाकार शिवकुमार लिए कविता संस्मरण, उपन्यास लघु उपन्यास आदि विधाओं के प्रतिष्ठित रचनाकार रहे हैं। इनकी रचनाओं में जनसाधारण की भावनाओं, परिस्थितियों और उनकी समस्याओं का मार्मिक चित्र हुआ है। इनका यह लघु उपन्यास एक परिवार पर आधारित अंचल के गांव की पृष्ठभूमि पर निस्सारित है, जिसमें लेखक ने पात्रों के मनोविज्ञान को भलीभाँति निरूपित किया है और साथ ही उनके स्वभाव को भी रूपायित किया है। इनकी कहानियों में गरीब, श्रमिक किसान और स्त्री जीवन का चित्रण हुआ है।

लेखक शिवकुमार शिव के इस उपन्यास में पितृसत्तात्मक व्यवस्था पर करारा व्यंग्य है। इस व्यवस्था में पुरुष मानसिकता को इस प्रकार पोषित किया जाता है कि पुरुषों को लगता ही नहीं कि कुछ गलत हो रहा है। तमाम तरह के उत्पीड़नों को कुदरती या प्राकृतिक कहकर जायज ठहरा दिया जाता है। स्त्री को स्वतंत्र इंसान न समझकर किस प्रकार पुरुष का गुलाम माना जाता है। साथ ही उपन्यास में दर्शाया गया है–स्त्री जब समाज में अपमानित महसूस करती है, तो उसके अपमान को सामान्य व्यवहार बताकर बार–बार दोहराया जाता है। 'तुलसी की गंध' के द्वारा लेखक अभिव्यक्त करना चाहते हैं कि नारी का दमन, शोषण या अवहेलना किसी एक विशिष्ट घटना अथवा विशिष्ट ढाँचे द्वारा नहीं होता, बल्कि यह समाज के मूल में व्याप्त है और सर्वव्यापक है। अतः इस मूल को समझना और चुनौती देना आवश्यक है। इस उपन्यास के केंद्र में एक दबे–कुचले वर्ग से आनेवाली स्त्री नायिका 'सीता' जो वन तुलसी की भूमिका में रहने के कारण लोग उसे आँगन में रखने लायक नहीं समझते, बल्कि उसका मनोनुकूल उपभोग कर त्याज्य समझते हैं। परंतु वह नायिका वन तुलसी की तरह जंगल में ही सही स्वतंत्र जीना चाहती है और वहीं अपना सुगंध फैलाना चाहती है। उपन्यास की नायिका तुलसी के पौधे की तरह, जो किसी के घर–आँगन में पल्लवित नहीं हुई है, बल्कि अपने बूते पनपी है और अब इस छोटे से तुलसी के पौधे ने अपनी गंध से जैसे इस पूरे वन को महकाने को ठान लिया है। उसी तरह नायिका सीता ने हर तरह के विरोध के बावजूद अपने को स्थापित करना ठान ली है। और साथ ही अपने भाई और बेटे को इस समाज के सामने निर्भय होकर खड़ा होना, सिखाने में लगी है। सीता कहती है–''जो अग्निशिखा मेरे अंदर जलती है, वही अग्नि मुझे अपने भाई और बेटे के अंदर भी जलानी है। मैं चाहती हूँ कि वह इतने मजबूत बने कि इस समाज के ठेकेदारों से डरे नहीं, उनके आगे झुके नहीं। मैं इन्हें सिखाऊँगी–एक स्त्री का सम्मान कैसे करना है। इन्हें एक सच्चा पुरुष बनाना है मुझे।''

लेखक का यह उपन्यास महज मनोरंजन या बौद्धिक विमर्श भर नहीं है, बल्कि यह व्यापक सामाजिक सांस्कृतिक, वैचारिक परिवर्तन का माध्यम है। इसका कथानक एक ऐसी स्त्री का है, जो समाज रूपी बीहड़ वन को अपने संघर्षों की गंध से महका देना चाहती है। इसके माध्यम से यह पड़ताल भी संभव है कि समकालीन हिंदी कथा–साहित्य में नारी–जीवन से जुड़ी विद्रूपताओं और विसंगतियों के विरुद्ध प्रतिरोध के स्वर कैसे मुखरित हो सकते हैं, जिसे सीता नामक नायिका के अंतर्बाह्य संघर्ष और परिवर्तनकारी प्रयत्नों की आहट को इस उपन्यास में महसूस किया जा सकता है। इस प्रकार की विवेचना केंद्र में कृष्णा सोबती, मृदुला गर्ग, प्रभा खेतान, चित्रा मुद्गल, सुधा अरोरा, नासिरा शर्मा आदि का कथा–साहित्य रहा है। इसी प्रकार पुरुष रचनाधर्मिता के परिप्रेक्ष्य में शिवकुमार शिव के स्वर भी इस उपन्यास में मुखरित हुए हैं।

उपन्यास में 'गनिया' नाम की महिला ठाकुर महेसर सिंह के दरबार में सेवा करते–करते, कुहरते–कुहरते मर गई। उसकी बेटी 'धनकुंवर' जो देखने में सुंदर थी, जिसका उपभोग भी ठाकुर ने भरपूर किया और अंत में उसे भी बुढ़ापे में एक टंटा समझकर दरबार से निकाल दिया।

धनकुंवर की बेटी सीता को भी सामाजिक प्रताड़ना झेलनी पड़ी। पर सीता ने ठान लिया कि हमें किसी भी तरह से समाज के चलन को बदलना होगा, ताकि अन्य सीता को वह सब झेलना नहीं पड़े और ना किसी युग में किसी सीता को धरती में दफन होने की नौबत आये।

समकालीन चैतनिक परिदृश्य में इस उपन्यास की उपस्थिति महत्त्वपूर्ण बन गई है। साहित्य और संस्कृति के फलक पर इसकी व्याप्ति जहाँ विचारोत्तेजक लगी, वहीं निरंतर जटिल होती सामाजिक संरचना के बरअक्स कई नए आयाम उभरकर सामने आए हैं। कथाकार ने इस पुस्तक में बेहिचक सत्य को उद्घाटित किया है। कथावस्तु को गति देने के लिए इन्होंने कथोपकथन शैली का सहारा लिया है। कुछ सवादों द्वारा पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं पर भी प्रकाश डाला है। सहज–सी लगने वाली महत्त्वपूर्ण शैली में लेखक ने अपनी बात रखी है। उपन्यास का शीर्षक कथानक के अनुसार कलात्मक है। उपन्यास को पढ़नेवाले की उत्सुकता बनी रहती है। कहानी में रोचकता भी है। कथाकार तो अब नहीं रहे, पर उनकी स्मृति को भुलाया नहीं जा सकता। उपन्यास प्रकाशित करानेवाली उनकी सुपुत्री अनामिका शिव संपादक किस्सा को सादर धन्यवाद व हार्दिक बधाई।

आलेख

चंद्रमौलि चंद्रकांत

शैलेन्द्र चौहान
प्रतापनगर, जयपुर
मो.–7838897877

'धरती' पत्रिका का नया अंक वैज्ञानिक चेतना और भारतीय समाज विषय पर केंद्रित है। कहा जा सकता है कि इस विषय पर यह महत्त्वपूर्ण एवं अभिनव प्रयास है। धरती की विशेषता ही यह है कि यह उन सृजनशील व्यक्तियों और मुद्दों पर अंक केंद्रित करती है, जो महत्त्वपूर्ण होते हुए भी तत्समय चर्चा के केंद्र में नहीं रहते।

त्रिलोचन शास्त्री, शीलजी, शलभ राम सिंह के अलावा ग़ज़ल, समकालीन कविता, साम्राज्यवादी संस्कृति बनाम जनपदीय संस्कृति, कश्मीर, पत्रकारिता और किसान आंदोलन पर केंद्रित अनूठे अंक इसके प्रमाण हैं। सम्प्रति अंक, भारतीय समाज में पैठती अवैज्ञानिक एवं जड़ चेतना के बरक्स तार्किक–वैज्ञानिक सोच की आवश्यकता पर केंद्रित है। इसमें संपादकीय के साथ–साथ बारह अन्य लेख समाज में व्याप्त यथास्थिति या जरूरी वैज्ञानिक चेतना के बारे में है। अपने संपादकीय में शैलेन्द्र जी कहते हैं–प्रकृति की कार्यशैली को समझना ही विज्ञान का उद्देश्य है। कहते हैं–वैज्ञानिक पद्धति सकारात्मक सामाजिक परिवर्तन की बल देती है और आगे निर्मिति की इस पद्धति से मानव और समाज को मूलतः यही सीखना है कि कोई भी ज्ञान अंतिम नहीं है। प्रत्येक ज्ञान परीक्षण के उपरांत ही मान्य है। आगे साहित्य के संदर्भ में वे जन–पक्षधरता और प्रतिबद्धता की बात करते हैं। विज्ञान के स्थूल और सूक्ष्म प्रभावों की बात करते हैं।

विचार प्रखंड में मुकेश असीम आर्थिक परिस्थितियों के प्रभाव से निर्मित वैज्ञानिक समाज का यर्थार्थपरक विश्लेषण करते हैं। प्रदीप विज्ञान और तकनीक का अंतर स्पष्ट करते हैं। राजकुमार राही विज्ञानपरक शिक्षा से वैज्ञानिक चेतना के विकास को रेखांकित करते हैं। राजीव गुप्ता शिक्षा के विकृत होते रूपों की सामाजिक– राजनीतिक पड़ताल बखूबी व्याख्यायित करते हैं। जावेद अनीस भारतीय मुस्लिम समाज में वैज्ञानिक चेतना की स्थिति से हमें रूबरू कराते हैं। अभिषेक श्रीवास्तव समाज में वैज्ञानिक चेतना की अनुपस्थिति पर गहन चिंता जाहिर करते हैं। दिगंबर वैज्ञानिक नजरिए का वस्तुगत विश्लेषण करते हैं। जवरीमल पारख भारतीय हिंदी सिनेमा पर वैज्ञानिक और विचारधारात्मक प्रभाव का लेखा–जोखा प्रस्तुत करते हैं। ठाकुर सांस्कृतिक चेतना और सत्यवीर सिंह चार्वाक लोकायत परंपरा की भारतीय सामाजिक–राजनीतिक संदर्भ में बात करते हैं।

वैज्ञानिक चेतना पर इतने समृद्ध चिंतन और विश्लेषण के साथ–साथ इस अंक में साहित्यिक सामग्री भी यथेष्ट, समृद्ध और पर्याप्त मात्रा में समाहित है। सुपरिचित कवि विजेन्द्र जी की स्मृति में उनकी मृत्युपूर्व लिखी कुछ महत्त्वपूर्ण कविताएँ आईदान सिंह भाटी की उनकी डायरियाँ पर संक्षिप्त टिप्पणी, अमीरचंद वैश्य का आलेख और विजेन्द्र जी को पत्नी उषा जी का उनके सुयोग्य पुत्र राहुल नीलमणि जी का स्मरण अपने अग्रजों के प्रति सम्मान का परिचायक है। साहित्यखंड में भारत के दूरस्थ क्षेत्रों में रहनेवाले दो युवा कवियों सुरेंद्र प्रजापति और चंद्र की कविताओं की प्रस्तुति उनकी अपनी टिप्पणियों सहित 'देस' स्तंभ के अंतर्गत की गई है। यह स्वागतयोग्य कार्य है। कविताओं में भानुप्रकाश रघुवंशी और उर्मिल मोंगा की अच्छी और सहज कविताएँ हैं। दो विदेशी कवियों टी.एम.मूअर और डेला हिक्स विलसन की कविताओं के बेहतर अनुवाद हैं। लोकेंद्र सिंह कोट की कहानी 'मैं रोंदूँगी तोय' पारंपरिक रोजगारों के लोप की कहानी है। अल्पज्ञात कथाकार प्रबोध कुमार की कहानियों पर आशीष सिंह का लंबा आलेख है।

बुतपरस्ती मेरा ईमान नहीं और अपने समय का आज पुस्तकों पर विस्तृत समीक्षाएं है। धरती सही मायने में एक ऐसी लघुपत्रिका है, जो प्रतिबद्ध भी है और सामाजिक यथार्थ का आईना भी है। 'पहल' जैसी पत्रिकाएँ, जो काम कर रही थी, धरती उनका विस्तार है। कुल मिलाकर यह अंक चेतस पाठकों और सुधी साहित्यकारों के लिए एक जरूरी खुराक है। इसे अवश्य पढ़ा जाना चाहिए।

कविता

प्रो. डॉ. जटाधर दूबे
श्यामसुंदर नगर, पीटीसी कोर्रा हजारीबाग
मो.–8076571056

धरती मांग रही.....

धरती मांग रही है माता, अब तेरा अवतार
रावण ने अपमान किया, सीता माता का
रामरूप हरि ने उसका संहार किया था
भरी सभा नारी का मान न रख पायी थी
कृपाचार्य, गंगासुत, द्रोण, सभी थे गूँगे
कौरव–कुल ने द्रुपदसुता का मान उछाला
कृष्णरूप ने कौरव–कुल संहार किया था
पग–पग पर अब रावण, दुर्योधन प्रकटे हैं
राम, कृष्ण तुमको ही माता बनना होगा

धरती मांग रही माता, कन्याओं का उद्धार
धरती मांग रही है माता, अब तेरा अवतार

परिवार की डोर हमीं हर युग में बनते
हमसे ही तो घर बन जाता है फुलवारी
राम, कृष्ण भी मानव रूप हमीं से पाते
क्यों विधना ने सृष्टि केन्द्र में हमको रक्खा
हो अबोध बालिका, नारियाँ किसी उम्र की
सभी रूप तेरे ही माता, पूज्या हैं सब
किन्तु लोभ से झूठी आकांक्षाओं के हित
नित प्रहार कर रहे कोख में, जन्म न लूँ मैं

इन्हें बता दो निखिल विश्व का हम ही हैं उपहार
धरती मांग रही है माता, अब तेरा अवतार

जन्म लिया तो निकट झपटने को आतुर हैं
काम–वासना के रंगों में रंगे भेड़िये
नहीं मर रहे नियम और कानून अस्त्र से
शक्तिहीन है सरकारों की न्याय–व्यवस्था
रक्तबीज हैं दानव ये, यदि एक मरे तो
संविधान की धरती से लाखों उठ आते
उम्र, समय, स्थान, रक्त, न ये पहचानें
कोतवाल इनके चाँदी के जूते खोजें।

खप्पर लेकर आओ माता, मना रक्त त्योहार
धरती मांग रही है माता, अब तेरा अवतार।

आलेख

भागो नहीं दुनिया को बदलो

कृष्ण कुमार यादव
पोस्टमास्टर जनरल
वाराणसी परिक्षेत्र, वाराणसी
मो0– 09413666599

21वीं सदी के इस दौर में जब संचार क्रान्ति के साधनों ने समय विश्व को एक ग्लोबल विलेज में परिवर्तित कर दिया हो एवम् इंटरनेट द्वारा ज्ञान का समूचा संसार क्षण भर में एक क्लिक पर सामने उपलब्ध हो, ऐसे में यह अनुमान लगाना कि कोई व्यक्ति दुर्लभ ग्रंथों की खोज में हजारों मील दूर पहाड़ व नदियों के बीच
भटकने के बाद, उन ग्रन्थों को खच्चरों पर लादकर अपने देश में लाए, रोमांचक लगता है। पर ऐसे ही थे–भारतीय मनीषा के अग्रणी विचारक, साम्यवादी चिन्तक, सामाजिक क्रान्ति के अग्रदूत, सार्वदेशिक दृष्टि एवं घुमक्कड़ी प्रवृति के महान पुरुष महापण्डित राहुल सांकृत्यायन।

उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ जिले में निजामाबाद तहसील अन्तर्गत पन्दहा गाँव में अपने नाना पं. रामशरण पाठक के यहाँ 9 अप्रैल, 1893 को जन्मे राहुल सांकृत्यायन का पैतृक गाँव कनैला रहा, पर इनका लालन–पालन एवं शिक्षा–दीक्षा ननिहाल में ही हुआ। चूँकि नाना पं. रामशरण पाठक एक अनुशासन प्रिय सैनिक थे, सो राहुल पर अनुशासन का गहरा प्रभाव पड़ा। इनके बचपन का नाम केदारनाथ पाण्डे था। माता का नाम कुलवन्ती देवी एवं पिता का नाम गोवर्धन पाण्डे था। सन् 1898 में राहुल जी की शिक्षा प्राथमिक पाठशाला, रानी की सराय में आरम्भ हुई एवं सन् 1908 में उर्दू मिडिल की परीक्षा निजामाबाद के मिडिल स्कूल से उत्तीर्ण की। राहुल ने निजामाबाद के ऐतिहासिक महत्त्व को रेखांकित करते हुए लिखा है कि ''एक समय वह था, जब निजामाबाद में सम्राट अकबर ने कई महीने बिताए। अपने जन्म दिन के उपलक्ष्य में सोने के रत्नों के तुलादान किए।'' हिन्दी के युगप्रवर्तक कवि अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध की जन्म–स्थली और कृष्ण प्रसाद गौड (बेढब बनारसी) का ननिहाल भी यहीं रहा है। राहुल का विवाह 11 वर्ष की अल्पायु में ही रामदुलारी से कर दिया गया। 19 वर्ष की आयु में राहुल का सम्पर्क सरसा जिले के एक मठाधीश से हुआ और वे उनके शिष्य होकर साधु बन गये एवं अपना नाम 'रामोदर साधु' रख लिया। इसके बाद ही उन्होंने अपना वैराग्य और घुमक्कड़ी जीवन आरम्भ कर दिया।

मानवेन्द्र नाथ राय और आचार्य नरेन्द्र देव सरीखे दार्शनिक व चिन्तकों की कड़ी के ही एक मजबूत स्तम्भ थे– राहुल सांकृत्यायन भारतीय अध्यात्म से लेकर मार्क्सवाद तक पर गहरी पकड़ रखनेवाले इन मनीषियों की चिन्ता मात्र दुनिया को समझने व उसका विश्लेषण करने तक सीमित नहीं थी, वरन् अपनी अद्भुत मेधा की बदौलत ये दुनिया को बदलने का सपना भी देखते थे। राहुल सांकृत्यायन की पुस्तक 'भागो नहीं, दुनिया को बदलो' इसी कल्पना को मूर्त रूप देती नजर आती है। भारतीय समाज में व्याप्त अन्तर्विरोधों की व्याख्या करते हुए समाजवादी समाज का विकल्प प्रस्तुत करती यह पुस्तक किसी 'कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो' से कमतर नहीं है एवं आज भी साम्यवादी और समाजवादी आन्दोलन से जुड़े तमाम लोग इस पुस्तक से प्रेरणा पाते हैं। यह पुस्तक राहुल की जनसामान्य के प्रति अटूट निष्ठा और तथाकथित अभिजात्य व शिक्षित वर्ग एवं राजनीतिज्ञों के प्रति सन्देह भी व्यक्त करती है। इस पुस्तक की भूमिका में उनके शब्द गौरतलब है–''राजनीति को थोड़े पढ़े–लिखे आदमियों के हाथ में देकर अब चुप नहीं बैठा जा सकता। ऐसा करने से जनता को बराबर नुकसान उठाना पड़ा। जनता को वोट देने का अधिकार दे देने से काम नहीं चलेगा, उसे अपनी भलाई–बुराई भी मालूम होनी चाहिये और यह मालूम होना चाहिए कि राजनीति के अखाड़े में कैसे दाँव–पेंच खेले जाते हैं।''

राहुल सांकृत्यायन उस दौर की उपज थे, जब ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भारतीय समाज, संस्कृति, अर्थव्यवस्था और राजनीति सभी संक्रमणकालीन दौर से गुजर रहे थे। वह दौर समाज सुधारकों का था एवं कांग्रेस अभी शैशवावस्था में थी। इन सबसे राहुल अप्रभावित न रह सके एवं अपनी जिज्ञासु व घुमक्कड़ प्रवृत्ति के चलते घर–बार त्यागकर साधु वेषधारी संन्यासी से लेकर वेदान्ती, आर्यसमाजी व किसान नेता एवं बौद्ध भिक्षु से लेकर साम्यवादी चिन्तक तक का लम्बा सफर तय किया। सन् 1930 में श्रीलंका जाकर वे बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गये एवं तभी से वे रामोदर साधु से 'राहुल' हो गये और सांकृत्य गोत्र के कारण सांकृत्यायन कहलाये। उनकी अदभुत तर्कशक्ति और अनुपम ज्ञान भण्डार को देखकर काशी के पंडितों ने 'महापंडित' की उपाधि दी एवं इस प्रकार वे केदारनाथ पाण्डे से महापंडित राहुल सांकृत्यायन हो गये। सन् 1937 में रूस के लेनिनग्राद में एक स्कूल में उन्होंने संस्कृत अध्यापक की नौकरी कर ली और उसी दौरान ऐलेना नामक महिला से दूसरी शादी कर ली, जिससे उन्हें इगोर राहुलोविच नामक पुत्ररत्न प्राप्त हुआ। छतीस भाषाओं के ज्ञाता राहुल ने उपन्यास, निबंध, कहानी, आत्मकथा, संस्मरण व जीवनी आदि विधाओं में साहित्य सृजन किया; परन्तु अधिकांश साहित्य हिन्दी में ही रचा। राहुल तथ्यान्वेषी व जिजासु प्रवृत्ति के थे, सो उन्होंने हर धर्म के ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया। अपनी दक्षिण भारत यात्रा के दौरान संस्कृत ग्रंथों, तिब्बत प्रवास के दौरान पालि–ग्रन्थों, तो लाहौर यात्रा के दौरान अरबी भाषा सीखकर इस्लामी धर्म ग्रन्थों का अध्ययन किया। निश्चिततः राहुल सांकृत्यायन की मेधा को साहित्य, अध्यात्म, ज्योतिष, विज्ञान, इतिहास, समाजशास्त्र, राजनीति, भाषा, संस्कृति, धर्म एवं दर्शन के टुकड़ों में बाँटकर नहीं देखा जा सकता, वरन् वह तो समग्र भारतीयता के मूर्त रूप थे। यही कारण था कि उन्होंने भावी भारतीय राष्ट्र एवं वैश्विक व्यवस्था की कल्पना उस दौर में कर ली और सन् 1922–23 में हजारीबाग जेल में निरूद्ध रहने के दौरान उन्होंने अपनी प्रथम पुस्तक 'बाईसवीं सदी' लिखी।

राहुल सांकृत्यायन के व्यक्तित्व का एक प्रमुख पक्ष भारतीय समाज की विशिष्टताओं को आत्मसात कर चलना रहा
है। जहाँ उचित परम्पराओं को उन्होंने तार्किक विश्लेषण के आधार पर सिद्ध किया, वहीं विभेदकारी और अंधविश्वासी परम्पराओं मसलन–सामंतवाद, ब्राह्मणवाद, जातिवाद, अस्पृश्यतावाद, मायावाद, पुनर्जन्मवाद, धार्मिक अंधविश्वासों इत्यादि का तीव्र विरोध किया। राहुल ने जीवन भर जड़ता के विरुद्ध ऐसी प्रगतिशील ऐतिहासिक शक्तियों का आह्वान किया, जिससे नया मनुष्य और नयी समाज व्यवस्था गढ़ी जा सके। उनका चिन्तन मात्र किताबी
नहीं था, वरन् जन साधारण को केन्द्र में रखकर उन्होंने समाज को बदलने की कोशिश की। इसीलिए राहुल अपने साहित्य, दर्शन, इतिहास और राजनैतिक चिन्तन को अभिजात्य वर्ग की तरह बौद्धिक बहस के रूप में नहीं, वरन् जीवन–सापेक्ष बनाकर लोक संस्कृति से जोड़ते हैं। उनका धर्म रूढ़ियों और कर्मकाण्डों
पर आधारित न होकर सहज करुणा, प्रेम व मैत्री भाव पर आधारित है।

कभी–कभी राहुल सांकृत्यायन के व्यक्तित्व पर यह प्रश्नचिह्न भी

लगाया जाता है कि वे जीवन में कभी भी स्थायित्व को न प्राप्त कर सके। चाहे वह उनकी पारिवारिक जिन्दगी में तीन शादियों का सवाल हो (सन् 1949 में) राहुल ने तीसरी शादी कमला से की, जिससे उन्हें जया और जेती नामक फिर वेदान्ती पुत्री और पुत्र उत्पन्न हुए। फिर वेदांती से साम्यवादी तक का सफर। राहुल के जीवन का मूलमंत्र ही घुमक्कड़ी यानी गतिशीलता रही है। घुमक्कड़ी उनके लिए वृत्ति नहीं, वरन् धर्म था। तीसरी कक्षा की पढ़ाई के दौरान ही राहुल ने इस्माइल मेरठी की ये पंक्तियाँ पढ़ीं और उसे अपने जीवन में आत्मसात् कर लिया–

सैर कर दुनिया की गाफिल जिन्दगानी फिर कहाँ?
जिन्दगी गर कुछ रही, तो नौजवानी फिर कहाँ?

राहुल का समग्र जीवन ही रचनाधर्मिता की यात्रा थी। जहाँ भी वे गए, वहाँ की भाषा व बोलियों को सीखा और इस तरह यहाँ के लोगों में घुलमिल कर वहाँ की संस्कृति, समाज व साहित्य का गूढ़ अध्ययन किया। उनका मानना था कि घुमक्कड़ी मानव–मन की मुक्ति का साधन होने के साथ–साथ अपने क्षितिज विस्तार का भी साधन है। उन्होंने कहा भी था कि–''कमर बाँध लो भावी घुमक्कडों, संसार तुम्हारे स्वागत के लिए बेकरार है।'' राहुल ने अपनी यात्रा के अनुभवों को आत्मसात् करते हुए 'घुमक्कड़ शास्त्र' भी रचा। वे एक ऐसे घुमक्कड़ थे, जो सच्चे ज्ञान की तलाश में था और जब भी सच को दबाने की कोशिश की गई, तो वह बागी हो गया। उनका सम्पूर्ण जीवन अन्तर्विरोधों से भरा पड़ा है। वेदान्त के अध्ययन पश्चात् जब उन्होंने मंदिरों में बलि चढ़ाने की परम्परा के विरुद्ध व्याख्यान दिया, तो अयोध्या के सनातनी पुरोहित उन पर लाठी लेकर टूट पड़े। बौद्ध धर्म स्वीकार करने के बावजूद वह इसके पुनर्जन्मवाद को नहीं स्वीकार पाए। बाद में जब वे मार्क्सवाद की और उन्मुख हुए, तो उन्होंने तत्कालीन सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी में घुसे सत्तालोलुप सुविधापरस्तों की तीखी आलोचना की और उन्हें आन्दोलन के नष्ट होने का कारण बताया। सन् 1947 में अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष रूप में उन्होंने पहले से छपे भाषण को बोलने से मना कर दिया एवं जो भाषण दिया, वह अल्पसंख्यक संस्कृति एवं भाषाई सवाल पर कम्युनिस्ट पार्टी की नीतियों के विपरीत था। नतीजन पार्टी की सदस्यता से उन्हें वंचित होना पड़ा, पर उनके तेवर फिर भी नहीं बदले। इस कालावधि में वे किसी बंदिश से परे प्रगतिशील लेखन के सरोकारों और तत्कालीन प्रश्नों से लगातार जुड़े रहे। इस बीच मार्क्सवादी विचारधारा को उन्होंने भारतीय समाज की ठोस परिस्थितियों का आकलन करके ही लागू करने पर जोर दिया। अपनी पुस्तक 'वैज्ञानिक भौतिकवाद' एवं 'दर्शन–दिग्दर्शन' में इस सम्बन्ध में उन्होंने सम्यक् प्रकाश डाला। अन्ततः सन् 1953–54 के दौरान पुनः एक बार वे कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य बनाये गये।

एक कर्मयोगी योद्धा की तरह राहुल सांकृत्यायन ने बिहार के किसान आन्दोलन में भी प्रमुख भूमिका निभाई। सन् 1940 के दौरान किसान आन्दोलन के सिलसिले में उन्हें एक वर्ष की जेल हुई, तो देवली कैम्प के इस जेल प्रवास के दौरान उन्होंने 'दर्शन–दिग्दर्शन' ग्रन्थ की रचना कर डाली। 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन के पश्चात् जेल से निकलने पर किसान आन्दोलन के उस समय के शीर्ष नेता स्वामी सहजानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित साप्ताहिक पत्र 'हुंकार' का उन्हें सम्पादक बनाया गया। ब्रिटिश सरकार ने 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपनाते हुए गैर कांग्रेसी पत्र–पत्रिकाओं में चार अंकों हेतु 'गुण्डों से लड़िए' शीर्षक से एक विज्ञापन जारी किया। इसमें एक व्यक्ति गाँधी टोपी व जवाहर बण्डी पहने आग लगाता हुआ दिखाया गया था। राहुल सांकृत्यायन ने इस विज्ञापन को छापने से इन्कार कर दिया पर विज्ञापन की मोटी धनराशि देखकर स्वामी सहजानन्द ने इसे छापने पर जोर दिया। अन्ततः राहुल ने अपने को पत्रिका के सम्पादन से ही अलग कर लिया। इसी प्रकार सन् 1940 में बिहार प्रान्तीय किसान सभा के अध्यक्ष रूप में जमीदारों के आतंक की परवाह किए बिना वे किसान सत्याग्रहियों के साथ खेतों में उतर हँसिया लेकर गन्ना काटने लगे। प्रतिरोध स्वरूप जमींदार के लठैतों ने उनके सिर पर वार कर लहुलुहान कर दिया पर वे हिम्मत नहीं हारे। इसी तरह न जाने कितनी बार उन्होंने जनसंघर्षों का सक्रिय नेतृत्व किया और अपनी आवाज से मुखर अभिव्यक्ति दी।

भारतीय साहित्य व संस्कृति में राहुल सांकृत्यायन का योगदान अक्षुण्ण है। चाहे वह तिब्बत से तिब्बती, पाली व संस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थों को बाईस खच्चरों पर लादकर भारत लाने की जीवटता हो अथवा दर्शन, इतिहास, संस्कृति व साहित्य जैसे जटिल बौद्धिक विषयों को जन भाषा और सरल शब्दावली में सर्वसुलभ बनाना हो या अतीतोन्मुखी होने की बजाय खुले दिमाग से अतीत के उदात्त व मानवीय पहलुओं को अपनाना हो एवं विचारधाराओं की जड़ता के विपरीत समाज की वस्तुगत परिस्थितियों व जनसाधारण को अपने चिन्तन का केन्द्र–बिन्दु बनाना हो... ये सभी विशिष्टताएँ राहुल सांकृत्यायन की मेधा की समग्रता की परिचायक है। उनका मानना था कि बाहरी कान्ति से ज्यादा जरूरी मानसिक क्रान्ति की है। वे एक जगह लिखते हैं कि ''आज जिस तरह का मानव–जाति का ढाँचा दिखाई पड़ता है. असल में सब दोष उसी ढाँचे का है। जब तक यह ढाँचा तोड़कर नया ढाँचा नहीं बनाया जाता, तब तक दुनिया नरक बनी रहेगी। ढाँचा तोड़ना भी एक आदमी के बूते का नहीं है, उसके लिए उन सब लोगों को काम करना है, जिनको इस ढाँचे ने आदमी नहीं रहने दिया।''

यही कारण था कि परम्परा विमुखता की बजाय उन्होंने परम्पराओं की प्रासंगिकता व उनके सकारात्मक विकास पर जोर दिया। समाज के उपेक्षित वर्गों के प्रति काफी भाव–विह्वल दिखे। पितृसत्तात्मक भारतीय समाज में नारी के साथ भेदभाव और ब्राह्मणवादी समाज में दलितों के साथ भेदभाव व शोषण के विरुद्ध उन्होंने लोगों को जनसामान्य की भाषा में लिखे गये नाटकों, गीतों व लेखों के माध्यम से आन्दोलित किया। जहाँ 'मेहरारून के दुर्दशा' नामक भोजपुरी नाटक के बहाने उन्होंने सामंती समाज में स्त्री–शोषण को उकेरा, वहीं एक साम्यवादी चिंतक के रूप में 'साम्यवाद ही क्यों' पुस्तक में 'स्त्रियों की परतंत्रता' नामक लेख में नारी की मुक्ति का पथ साम्यवादी समाज में खोजने का प्रयास किया। भारतीय समाज में नारियों, पिछड़ों, दलितों एवं शूद्रों की दुर्दशा सदैव उनके अन्तर्मन को आन्दोलित करती रही। अपने कहानी संग्रह 'सतमी के बच्चे' में भी उन्होंने ग्रामीण जीवन में व्याप्त शोषण, छुआछूत और विपन्नता को उजागर किया। अपने एक लेख 'अछूतों को क्या चाहिए?' में राहुल ने अस्पृश्य दलित जातियों के प्रति सवर्ण जातियों के उपेक्षात्मक व्यवहार की कड़ी निन्दा की। कभी–कभी तो राहुल की रचनाएँ पढ़कर प्रेमचन्द की रचनाओं का भ्रम होने लगता है। समाज में लड़का–लड़की के जन्म पर व्याप्त भेद को रेखांकित करते हुए उन्होंने भोजपुरी में लिखा–

एक माई बाप से एक ही उदरवा में
दूनों के जनमवा भइल रे पुरुखवा
पूत के जनमवा में नाच आ सोहर होला
बेटी के जनम परे सोग रे पुरुखवा ।।

राहुल सांकृत्यायन सदैव घुमक्कड़ ही रहे। उनके शब्दों में 'समदर्शिता घुमक्कड़ का एकमात्र दृष्टिकोण है और आत्मीयता उसके हरेक बर्ताव का सार' यही कारण था कि सारे संसार को अपना घर समझनेवाले राहुल सन् 1910 में घर छोड़ने के पश्चात् पुनः सन् 1943 में ही अपने

ननिहाल पन्दहा पहुँचे। वस्तुतः बचपन में अपने घुमक्कड़ी स्वभाव के कारण पिताजी से मिली डाँट के पश्चात् उन्होंने प्रण लिया था कि वे अपनी उम्र के पचास वर्ष में ही घर कदम रखेंगे। चूँकि उनका पालन–पोषण और शिक्षा–दीक्षा ननिहाल में ही हुआ था, सो ननिहाल के प्रति ज्यादा स्नेह स्वाभाविक था। बहरहाल जब वे पन्दहा पहुँचे, तो कोई उन्हें पहचान न सका, पर अन्ततः लोहार नामक एक वृद्ध व्यक्ति ने उन्हें पहचाना और स्नेहासिक्त रूँधे कण्ठ से 'कुलवन्ती के पूत केदार' कहकर राहुल को अपनी बाँहों में भर लिया। अपनी

जन्मभूमि पर एक बुजुर्ग की परिचित आवाज ने राहुल को भावविभोर कर दिया। उन्होंने अपनी डायरी में इसका उल्लेख भी किया है– 'लोहार नाना ने जब यह कहा कि अरे, ई जब भागत जाय त भगईया गिरत जाय' तब मेरे सामने अपना बचपन नाचने लगा। उन दिनों गाँव के बच्चे छोटी पतली धोती भगई पहना करते थे।

गाँववासी बड़े बुजुर्गों का यह भाव देखकर मुझे महसूस होने लगा कि तुलसी बाबा ने यह झूठ कहा है कि

''तुलसी तहाँ न जाइये, जहाँ जन्म को ठाव,
भाव भगति को मरम न जाने परे पछिलो नाँव।''

'भागो नहीं, दुनिया को बदलो' विचारधारावाले राहुल सांकृत्यायन सार्वदेशिक दृष्टि की ऐसी प्रतिभा थे, जिनकी साहित्य, इतिहास, दर्शन संस्कृति सभी पर समान पकड़ थी। विलक्षण व्यक्तित्व के अद्‌भुत मनीषी, चिन्तक, दार्शनिक, साहित्यकार, लेखक, घुमक्कड़, कर्मयोगी व सामाजिक क्रान्ति के अग्रदूत रूप में राहुल ने जिन्दगी के सभी पक्षों को जिया। यही कारण है कि उनकी रचनाधर्मिता शुद्ध कलावादी साहित्य नहीं है, वरन् वह समाज, सभ्यता, संस्कृति, इतिहास, विज्ञान, धर्म, दर्शन इत्यादि से अनुप्राणित है, जो रूढ़ धारणाओं पर कुठाराघात करती है तथा जीवन–सापेक्ष बनकर समाज की प्रगतिशील शक्तियों को संगठित कर संघर्ष एवं गतिशीलता की राह दिखाती है। ऐसे मनीषी को अपने जीवन के अंतिम दिनों में 'स्मृति लोप' जैसी अवस्था से गुजरना पड़ा एवं इलाज हेतु उन्हें मास्को भी ले जाया गया। पर घुमक्कड़ी को कौन बाँध पाया है, सो मार्च 1963 में वे पुनः मास्को से दिल्ली आ गए और 14 अप्रैल, 1963 को सत्तर वर्ष की आयु में सन्यास से साम्यवाद तक का उनका सफर पूरा हो गया, पर उनका जीवन–दर्शन और घुमक्कड़ी स्वभाव आज भी हमारे बीच जीवित है।

लघुकथा

कम्बल

श्याम सुन्दर तिवारी
रमा कॉलोनी खण्डवा, मध्य प्रदेश
मोबाइल 9425927717

दोपहर का वक्त था। घर से मन्दिर के लिए निकला, तभी अनुष्ठान करा रहे पंडित जी का फोन आया शेखर बाबू एक कम्बल और देते आइए। अनुष्ठान के बाद दान के लिए दरवाजे पर ताला लगाकर उतरा और कार में बैठा कि पत्नी का फोन आया।

सुनिए जी! आपको मालूम है न, रात में मुझे हरारत सी थी। लगता है फीवर आ गया। दवा भी लेते आना।

और हाँ जल्दी आ जाओ, अब पण्डित जी पूजन की सब तैयारियाँ कर चुके।

मैंने तेजी से बाजार पहुँचकर कम्बल और टेबलेट खरीदी और सीधे मन्दिर पहुँच गया। पार्किंग में कार लगाकर जैसे ही प्रांगण से सीढ़ियों की और बढ़ा, एक कराहने की आवाज आई। पलट के देखा तो एक बूढ़ी अम्मा थी। उत्सुकतावश उसके सामने पहुंचा, तो उसने बमुश्किल मेरी ओर अपना हाथ फैलाया और बोली–''बेटा बहुत ठण्ड है, मुझे चाय पिला दोगे क्या?'' उसकी कातर आँखों के आगे मैं टिक नहीं पाया। भावुक जो हूँ। सीधे सामने की दुकान पर जाकर चाय ली और उसे पकड़ा दी। उसका हाथ मेरे हाथों से छुआ तो जैसे करंट लगा।

वह बुखार में तप रही थी। मैंने कहा–''माँ जी! तुमको तो तेज बुखार है और ओढ़ने के लिए सिर्फ यह गोदड़ी? उसने मेरी तरफ भरी आँखों से देखा और जैसे ही नजर झुकाई, मेरे पैर पर दो गर्म आँसू गिरे। मैं उन आँसुओं की गर्मी इस भीषण ठण्ड में भी सहन नहीं कर सका। बिना कोई विचार किये, कार से कम्बल निकाला और उसे ओढ़ा दिया। बुखार की दो गोली उनके हाथ पर रख दी, कहा–''ये गोली खा लो अम्मा! फिर ऊपर से ये चाय पी लो, अच्छी हो जाओगी।'' उसने अपनी गरदन घुमाकर मेरी और देखा, मुझे ऐसा लगा जैसे माँ शिवा को आशीर्वाद आश्वस्ति देती वह दृष्टि मेरे हृदय में उतर गई हो। में आह्लादित, तेजी से मन्दिर की सीढ़ियाँ चढ़ गया। सामने खड़े पण्डित जी को देखकर पता चला कि वे मेरी प्रतीक्षा में खड़े होकर यह सब दृश्य देख चुके हैं।

पत्नी को लाई हुई शेष दवा दी। अनुष्ठान पूर्ण हुआ। दक्षिणा देने का समय आया। पत्नी ने पूछा–'अरे! वह कम्बल कहाँ है?

मुझे मालूम है, तुम बड़े भूलक्कड़ हो, गाड़ी में भूल गए होंगे।

पण्डित जी ने बात सँभाली, ''बहनजी! कम्बल तो शिवा ने पहले ही स्वीकार कर आशीर्वाद दे दिया है। अब उसकी कोई जरूरत नहीं।'' और वे मुस्करा दिए।

पत्नी अवाक! कभी मेरी ओर देख रही थी, कभी पण्डित जी की ओर।

मैंने उसके कंधे पर हाथ रखकर कहा–''शिवानी अब घर चलें, और वह प्रसाद की थैली लिये मेरे साथ चल पड़ी।''

आलेख

भूमण्डलीकरण और हिन्दी साहित्य

डॉ. पशुपतिनाथ उपाध्याय
शिवपुरी अलीगढ़ (उ.प्र.)
मो. 9897452431

हिन्दी साहित्य को विकसित और सभी तरह से समृद्ध बनाने हेतु भारतीय साहित्यकारों, चिंतकों एवं समाजसेवी मनीषियों ने अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया। आदिकाल जो हिन्दी साहित्य का आरंभिक काल है ने रासो साहित्य. अमीर खुसरो, आरम्भिक कालीन मैथिली साहित्य, विद्यापति, सूफी काव्य, नाथपंथी साहित्य आदि का आविर्भाव इसी काल में हुआ। भक्तिकाल में निर्गुण मार्गी संतकाव्यधारा में कबीर, दादू, रैदास आदि का विशेष योगदान रहा है। प्रेमाख्यान काव्य–परम्परा में सूफीमत के कवि जायसी का विशेष महत्त्व है। सगुण भक्तिधारा में रामभक्ति का साहित्य गोस्वामी तुलसीदास, केशवदास आदि ने समृद्ध करते हुए वैश्विक स्तर पर रामकथा और श्रीराम को मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। हिन्दी साहित्य की एक–एक विश्वसाहित्य में बड़ी देन है। कृष्णभक्ति काव्य में लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण का सार्वभौम व्यक्तित्व महात्मा सूरदास द्वारा चर्चित और चित्रित किया गया है, जिसे ब्रिटेन में आज भी देखने को मिलता है।

रीतिकाव्य में श्रृंगारपरक साहित्य का प्राधान्य रहा है तथा रीतिबद्ध, रीतिमुक्त आदि साहित्य भी सृजित हुआ। आधुनिक काल जिसे हिन्दी साहित्य का पुनर्जागरण काल कहा जाता है– इसमें ब्रजभाषा गद्य, राजस्थानी गद्य, खड़ी बोली गद्य, सम्पर्क भाषा एवं हिन्दी प्रचार में ईसाई प्रचारकों का योगदान भी रहा है

–ऐसा तथ्यात्मक विवरण मिलता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के आविर्भाव से हिन्दी साहित्य का बहुमुखी विकास सम्भव हुआ। आधुनिक काल का यह सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं साहित्यिक नवोन्वेष का काल कहा जा सकता है। तत्पश्चात् आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का युगप्रवर्तक नेतृत्व मिला, जिसमें हिन्दी भाषा की जातीय शैली का विकास सम्भव हुआ। हिन्दी अब आभिजात्य रूप धारण करने लगी। नैतिकता को सर्वाधिक प्रश्रय मिला। खड़ी बोली और ब्रजभाषा में द्वन्द्वबना रहा तथा हिन्दी साहित्य का व्यावसायिक रूप भी परिलक्षित हुआ, जिसके मूल में बाजारवादी संस्कृति का मूल स्वर था।

आधुनिक ब्रजभाषा काव्य में पुरानी धारा के कवि, ब्रज–
भाषा का युगानुरूप स्वरूप, द्विवेदीकालीन रूढ़िमुक्त ब्रजभाषा काव्य, जगन्नाथदास रत्नाकर का अभ्युदय, सत्यनारायण कविरत्न, वियोगी हरि आदि के महत्त्वपूर्ण योगदान की अनुशंसा हुई। आधुनिक खड़ी बोली काव्य–परम्परा में राष्ट्रीय चेतना, नैतिकता की स्थापना, विदेशी काव्य का प्रभाव, नई सामाजिक चेतना, प्रयोगवादी काव्य, श्रीधर पाठक, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, आदि के योगदान हिन्दी–काव्य में महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए। छायावादी काव्यधारा में पन्त, प्रसाद, निराला, महादेवी वर्मा आदि स्तम्भ माने गए। तत्पश्चात् प्रेमचन्द, उग्रजी, बच्चन, नरेन्द्रशर्मा, धर्मवीर भारती, राहुल सांकृत्यायन, हजारी प्रसाद द्विवेदी, नेपाली, रामप्रसाद त्रिपाठी, कृष्णकान्त मानवीय, उपेन्द्रनाथ अश्क, राजा राधिका रमण सिंह, सम्पूर्णानन्द, काका कालेलकर, डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, चन्द्रबली पाण्डेय, जानकी बल्लभ शास्त्री आदि प्रतिभाशाली कवियों, लेखकों एवं साहित्यकारों के सहयोग से हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि एवं अभिवृद्धि सम्भव हुई। छायावाद के पश्चात् बच्चन ने 'हालावाद' नामकरण किया। इसी क्रम में प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता, निबंध, नाटक, आलोचना, उपन्यास, कहानी तथा अन्य विधाओं में रेखाचित्र, संस्मरण, यात्रा–वृतांत, रिपोर्ताज, आत्मकथा, साक्षात्कार, जीवनी साहित्य आदि का भी आविर्भाव देखने को मिला है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही कहा है कि भारतेन्दु और उनके सहकर्मियों ने जीवन को साहित्य में निर्बाध विकसित होने का मार्ग दिखा दिया। इसलिए उन्नीसवीं शताब्दी के बाद साहित्य की धारा उन्मुक्त गति से आगे बढ़ी। इस शताब्दी के अंतिम चरण में हिन्दी साहित्य ने निश्चित रूप से शक्तिशाली कदम उठाया। इस प्रकार इस युग में कर्मण, त्यागी, तपस्वी एवं राष्ट्रभक्त साहित्यकारों ने जीवन और साहित्य की श्रृंगारकालीन भेदक दीवारों को धराशाही कर साहित्य को जीवन के साथ पूर्णतः समन्वित कर दिया है, जिसके सम्बन्ध सूत्र वैश्विक–स्तर पर देखे जा सकते हैं।

भूमण्डलीकरण की अवधारणा उपन्यास में भी देखने को मिलती है। उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द के अधिकांश उपन्यासों में आर्थिक संकट को रेखांकित किया गया है। उनका 'गबन' और 'गोदान' वैश्वीकरण प्रक्रिया के जीवंत दस्तावेज हैं। उनका पूरा साहित्य समाज की विषम परिस्थितियों, द्वन्द्वात्मक प्रवृत्तियों एवं बाजारवादी प्रवृत्ति का संधान है। उनको उपन्यास–कला की परिपूर्णता जीवनव्यापी आर्थिक मूल्यों, सामाजिक द्वन्द्वों, मानसिक तनावों एवं विषसंगतियों के विवेचन–विश्लेषण के प्रभावी सम्प्रेषण में निहित है। वे सामाजिक विद्रूपताओं से टकराने और उनसे मुक्त होने के लिए आस्था और विश्वास के साथ मार्ग निकालते हैं। 'गोदान' में आर्थिक संकट का शिकार होरी गाय का दान नहीं करता और मर जाता है। 'गबन' में आवश्यकताओं की शर्त हेतु नायक गबन करता है और उसके लिए दण्डित हो जाता है। 'प्रेमाश्रय' में मायाशंकर कृषकों की आर्थिक विपन्नता को व्यक्त करता है।

वैश्विक सामंजस्यवादी नीति के पक्षधर जयशंकर प्रसाद आनन्दवादी साहित्यकार हैं। उच्च आदर्शों की स्थापना में विश्वास रखनेवाले भारतीय सांस्कृतिक एकता के वे वाहक सिद्ध हुए हैं। 'इरावती' में पुनरुत्थान का संकल्प है, जबकि 'तितली' उपन्यास में साम्राज्य और सामन्तवादी उत्पीड़न की व्यथा–कथा है, जिसका सीधा संबंध भूमण्डलीकरण से है। 'कंकाल' समाज के विरुद्ध विद्रोही स्वर ध्वनित करता है तथा व्यक्ति स्वातंत्र्य की वकालत करता है। कथानक सामंती और साम्राज्यवादी संस्कारों से जुड़ा हुआ है। 'कंकाल' में गरीब–पीड़ित की कामवृत्ति, प्रबल तृष्णा, आभिजात्य वर्ग के दोहरे चरित्र, आदर्श के मिथ्या तस्वीर आदि का प्रस्तुतीकरण ही वैश्वीकरण की अवधारणा को पुष्ट करना है। समाज की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं तात्त्विक समस्याओं को लेकर भूमण्डलीकरण के परिप्रेक्ष्य में उपन्यासकार प्रसाद ने काम को जीवन में अवदमन का विकृत परिणाम सिद्ध किया है। मंगलदेव तारा से विवाह की अस्वीकृति देकर गाला के साथ द्वन्द्वात्मक संघर्षमय जीवन व्यतीत करता है। सभी पात्र अपने परिवार की तलाश में विफल रहकर अपनी भावनाओं को झूठलाते हैं।

अमृतलाल नागर एक महान उपन्यासकार की तरह उन्होंने भूमण्डलीकरण के परिप्रेक्ष्य में समाज का यथार्थवादी चित्रण किया है; जिसमें समाज की विकृतियों, विसंगतियों, विद्रूपताओं, उलझावों–भटकाओं आदि का विस्तृत चित्रण किया है। उनका स्पष्ट मत है कि ''रचनाएँ समाज में एक ओर श्रद्धा का आधार तैयार करती हैं, तो दूसरी तरफ टकराव यानी अन्तर संघर्ष को बढ़ावा भी देती हैं।'' नागर जी मानते हैं कि समाज में व्यवस्था हेतु सामाजिक एवं सांस्कृतिक संघर्ष जरूरी है तथा साहित्य इस संघर्ष को दिशा दे

सकता है। उनके उपन्यास इसी संघर्षशीलता के परिचायक हैं। नागर जी का स्वायत किया हुआ गौरवशाली भारतीय परम्परा का सही–स्वस्थ अध्ययन उन्हें वैश्वीकरण की प्रक्रिया में सहायक सिद्ध हुआ है। 'साहित्य और संस्कृति' पुस्तक में इसकी झलक मिलती है। उन्होंने लिखा है–'वह आर्य बड़ा आनन्दवादी था, लेकिन उच्छृंखल नहीं था। राष्ट्र में सदा जागते रहने की कामना करनेवाला राष्ट्र का औसत व्यक्ति राष्ट्र की नैतिक मर्यादा से स्वेच्छा से बँधा था। आर्य नैतिक मर्यादाओं के साथ आनन्दवादी था।' (पृ. 271) नागर जी की शिवभक्ति भी वैश्विक कल्याण की कामना है। 'बूँद और समुद्र' में उन्होंने इसका साक्ष्य दिया है–'शिव की कल्पना में क्या मस्ती, उदारता और फक्कड़पन है। इस देवता में काम का, काम दहन का देवता, नाशकारी, निर्माणकारी भोलानाथ शिव इस देश के कण–कण में रमा हुआ है।(पृ. 266)

नागर जी का पात्र महिपाल अन्त में आत्महत्या कर लेता है। उसके मन में यही विचार है कि ''जबतक समाज नहीं बदलता, व्यक्ति बेचारा क्या करेगा?'' आगे यह भी देखा गया है कि 'बैर और फूट हिन्दुस्तान के दिलों में घर कर गया है'– यह कथन सामन्तवादी और साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों का द्योतन करता है। युगीन प्रश्नों एवं समस्याओं का समाधान करने या संघर्ष की सक्रिय विचारोत्तेजना देना नागर जी की कला–दृष्टि का वैशिष्ट्य रहा है, जिसका संबंध वसुधैव कुटुम्बकम् और विश्व एक नीड़ की प्रकल्पना से जुड़ा हुआ है।

अमृतलाल नागर ने वैश्वीकरण, भूमण्डलीकरण प्रक्रिया के अन्तर्गत सामन्तवादी और साम्राज्यवादी नीतियों, बुराइयों एवं कुरीतियों का पुरजोर विरोध किया है। उनके उपन्यास 'नाच्यौ बहुत गोपाल' ने दुनिया में दो पुराने से पुराने गुलाम–एक भंगी और दूसरी औरत को चरम यातना के संदर्भ में आजाद भारत को उसकी झूठी आजादी का अहसास दिलाने और उनमें स्वातंत्र्य चेतना की पहचान, कराके वर्णजाति विहीन समाज बनाने की स्फूर्ति दी है। दीप्ति का यह कथन वर्गसंघर्ष एवं स्वातंत्र्य का प्रतीक है। महत्तरराइन बन बैठी कहती है–'मेहतरानी की अपनी मरजाद होती है बाबूजी! वह ईमानदारी का धंधा करके अपना पेट पालती है। रण्डी, भड़ूए जैसे कर्मों–विचारोंवाले लोग–लोगाइयों में अपनी आबरू की कीमती नहीं होती, जो हमारे मनों में है। हम अपने तन की मालकिन हैं, बिकाऊ या लुटाऊ माल नहीं है।' (पृ. 334) अन्ततोगत्वा वह कहती है–जमाना बदलकर रहेगा–इससे उसकी अडिग आस्था एवं विद्रोही स्वर का पता चलता है–यहीं भूमण्डलीकरण की प्रवृत्ति देखी जाती है।

भारत को विघटनात्मक एवं विनाशात्मक परिस्थितियों के लिए नागरजी ने आदर्श संग्रह करने की कोशिश की है। उनकी दृष्टि भारत की सांस्कृतिक और राजनीतिक ऐक्य स्थापन पर तथा इसके साधक और बाधक तत्त्वों पर बराबर रही है। 'एक बार नैमिष में' उन्होंने लिखा है कि 'अस्थिर लोकमानस को जीने के लिए आस्था का चुम्बक चाहिए।' (पृ. 466) यह विशाल और शक्तिशाली भारत राष्ट्र बनाने की पुष्टि करता है। 'बिखरते तिनके' एक राजनैतिक उपन्यास है, जिसमें नानाविधि पूँजीवादी भ्रष्टाचारों एवं आतंकवादी अराजकता की विनाशक निरर्थकता को सिद्ध करते हुए बिखराव को बचाने की सीमा–संभावनाओं का संकेत दिया गया है। एक अन्य उपन्यास 'खंजन नयन' में नागर जी ने उदारवादी और अपनी कल्याणवादी दृष्टि का परिचय दिया है–साक्ष्य है यह कथन–'लोक मानस विखंडित और आस्थाहीन हो रहा है। इन्हें जीने के लिए आस्था चाहिए, शांति चाहिए, रस चाहिए। (पृ. 88) आज राष्ट्र को भौतिक समृद्धि के साथ आध्यात्मिक शांति भी आवश्यक है।

वैश्वीकरण की प्रक्रिया को नागार्जुन ने भी अपने उपन्यासों में उठाकर उसका समाधान प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि मनुष्य एक लक्ष्यान्वेषी अथवा प्रयोजवान प्राणी है। वह विश्व को असंख्य वास्तविकताओं को साध्यों और साधनों, मूल्यों और मूल्याभावों के रूपमें ग्रहण करता है, ताकि वह उन्हें पाने अथवा दूर रखने की कोशिश कर सके। नागार्जुन ने मानव विकास, शांति एवं स्वतंत्रता में बाधक तत्त्वों को हटाने का प्रयास किया है तथा उनके स्थान पर उदारवादी तत्त्वों को स्थापित करने का भी प्रयत्न किया है। उन्होंने ऐसे जीवंत पात्रों की सृष्टि की है, जो उनके आदर्शों के अनुरूप नए समाज का, बदले हुए समाज का निर्माण कर सकें। वे सामाजिक विषमताओं एवं विडम्बनाओं के विरुद्ध जीवन भर संघर्ष करते रहे। उन्होंने संक्रमण की स्थिति और परिस्थिति में जनता के कठिन संघर्ष के बीच से अपना सिद्धान्त प्रतिपादित किया तथा उसे वामपंथी विचारधारा से जोड़कर एक व्यवस्थित रूप देने का प्रयास किया।

नागार्जुन के सम्पूर्ण साहित्य में अपने समय और समाज के भारतीय मनुष्य के अनेक प्रकार के उलझाव और संघर्षों को समझने–समझाने तथा उसको सामने लाने की कोशिश की गई है। उन्होंने भारतीय समाज में धर्म के अनेक प्रकार के प्रभावों और उनसे उपजे द्वन्द्वों का चित्रण किया है। नागार्जुन अपने उपन्यासों में सामाजिक परिवर्तन की ऐसी ठोस पीठिका तैयार करते हैं कि जिससे सामाजिक गतिशीलता, सक्रियता को लांक्षित करनेवाली रूढ़िवादी परम्पराओं की समाप्ति के साथ आर्थिक शोषण चक्र को खुली चुनौती दी जा सके–यह भूमण्डलीयकरण की सोच की परिणति है। श्रीलाल शुक्ल का उपन्यास 'राग दरबारी' मानसिक संघर्ष एवं राजनीतिक परिवेश का द्योतन करता है। 'रागदरबारी' ऐसे ही सर्वकारवादी और अनास्थावादी दौर का रोचक वृतांत है। वह आज और भी अधिक प्रासंगिक होकर हमारे सामने प्रस्तुत है। भारतीय राजनीतिक व सामाजिक अध:पतन क्रिया एवं जिस चिंता को श्रीलाल शुक्ल ने केन्द्रीयता प्रदान की, वह उनके विश्रामपुर का संत, पहला पड़ाव, मकान में उपस्थित रही है।' इस प्रकार सम्पूर्ण उपन्यास का कलेवर विषमताओं और विसंगतियों से अटा–पटा है, जिसका एक सिरा विश्व की वर्तमान परिस्थितियों से भी जुड़ा प्रतीत होता है।

'मैला आँचल' फणीश्वरनाथ रेणु का उपन्यास है, जिसमें नए और पुराने मूल्यों की टकराहट देखी जाती है। अंचलवासियों का आचार–विचार, रहन–सहन, रीति–रिवाज आदि में परिवर्तन देखे गए हैं। परिवर्तित मानसिकता ने सामाजिक व्यवस्थाओं को झकझोर दिया है। नई पीढ़ी परम्परा से कट रही है तथा नए रीति–रिवाज में विश्वास बढ़ रहा है। स्वातंत्र्य की प्रबल इच्छा मानव को स्वेच्छाचारी बना देती है। मूल्य संक्रमण को उसकी सम्पूर्ण जटिलता में कलात्मक अभिव्यक्ति दी गई है, जिससे वैश्वीकरण की भावना जागरित होती है। नासिरा शर्मा का पहला उपन्यास ईरान की क्रांति पर लिखा गया है। उनका कथन है कि ईरान की क्रांति पर लिखा मेरा यह उपन्यास उन अनुभवों का लेखा–जोखा है, जो पिछले नौ वर्षों में मुझे ईरान की धरती पर हुए। इन नौ वर्षों के पीछे लगभग नब्बे वर्षों का अतीत साँसें ले रहा था। 'शाल्मली' परम्परावादी प्रवृत्ति को रेखांकित करने वाला उपन्यास है, जिसमें पारम्परिक मूल्यों सत्यं वद, धर्मं चर, असतो मा सद्गमय आदि स्वर्णिम सिद्धान्तों की स्थापना है। नासिरा शर्मा ने विश्वमैत्री और विश्वशांति का उपदेश इस उपन्यास में देकर वैश्वीकरण की प्रक्रिया को बल प्रदान किया है।

मृदुला गर्ग का उपन्यास 'चित्तकोबरा' यौन संबंधों का त्रिकोणात्मक जाल है, जिसमें नारी स्वातंत्र्य की भावना मुखरित हुई हैं। 'मैं और मैं' की नायिका माधवी की शोषण की मार्मिक कारुणिक कथा है, जो दुविधा में जीवन यापन करती है। सुविधा की दुविधा पर ही उसका सम्पूर्ण प्रणय–व्यापार आधृत है। वह तनावग्रस्त गृहणी है। मैत्रेयी पुष्पा का उपन्यास 'आत्मा कबूतरी' का शुभारम्भ कुबूतरा जनजाति एवं सभ्य समाज के बीच द्वन्द्वसे
उठे टकराहट और द्वन्द्वात्मक स्थिति से हुआ है। मंसाराम और कदमबाई के नाजायज संबंध से राणा का जन्म होता है, यही संघर्ष की जड़ बन जाती है।

समाज इस प्रकार के संबंध की स्वीकृति नहीं देता।

भारत के सर्वोच्च न्यायालपने कहा कि डिजिटल इंटरनेट मीडिया पर लगाम की जरूरत है। सुप्रीम कोर्ट के जज जस्टिस विक्रमनाथ ने दिनांक ३ जुलाई, 2022 को कहा है कि प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्रमोदी के 'ग्लोबल सोचें और लोकल करें' के वक्तव्य का उदाहरण देते हुए कहा कि अंतरराष्ट्रीय लक्ष्यों को आगे बढ़ाते हुए

घरेलू हितों को भी भूलना नहीं चाहिए। उन्होंने रविवार ३ जुलाई, 2022 को जस्टिस एचआर खन्ना के नेशनल सिंपोजियम 'मूलभूत दायित्व बनाम मूलभूत अधिकार' पर सम्बोधन के दौरान कहा कि अधिकारों की बात से पहले दाखिलों के निर्वाह की बात होनी चाहिए। जस्टिस नाथ ने कहा कि प्रधानमंत्री श्री मोदी जी के उस वक्तव्य से साफ है कि हमारा नजरिया पूरी तरह से वैश्विक हो, तो भी देश में अन्य लोगों के हितों और अधिकारों को भूलना नहीं चाहिए। यह है भारत की वैश्विक सोच और भारतीय सोच की वैश्विक प्रगति भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया।

विश्वबाजार में भारत की साख बढ़ी है, इसका साक्ष्य है कि भारत निर्मित तेजस विमान मलेशिया खरीदना चाहता है। दिनांक 4 जुलाई, 2022 नई दिल्ली की सूचना के अनुसार भारत के स्वदेशी तेजस युद्धक विमान मलेशिया की पहली पसंद है। चीन के जेएफ–17 जेट, दक्षिणी कोरिया के एफए 50 और रूस के मिग–35 तथा याक–130 विमानों के विकल्पों पर भी विचार किया था, लेकिन इन देशों के विमानों से इतर मलेशिया को अपनी वायुसेना के लिए भारत का तेजस सर्वश्रेष्ठ लगा। इससे संभावित देशों के खरीददार को भी बहुत अच्छा संकेत मिलेगा और तेजस के निर्यात को बढ़ावा मिलेगा। यह है भूमण्डलीकरण प्रक्रिया के अन्तर्गत विश्व बाजार में भारत की मजबूत स्थिति और साख। तेजस को बनानेवाली कम्पनी एचएएल है और यह एक इंजन वाला हल्का युद्धक विमान है।

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र की वैश्विक यात्रा यूनानी साहित्य–चिंतक प्लेटो और उनके गुरु अरस्तू से आरम्भ हुई है। इसका दूसरा पड़ाव लोंजाइनस के 'परिइप्सुस' जो उदात्ततत्त्व का तात्त्विक विवेचन है, पर सोलहवीं शताब्दी में देखा गया है। तत्पश्चात् विश्वसाहित्य शास्त्र का तीसरा पड़ाव इटली के टोरेस के औचित्य–सिद्धान्त में देखा गया है। होरेस पुनर्जागरण काल तथा नव्यशास्त्रीय युग में सर्वाधिक प्रभावशाली समीक्षक माना गया था। चौथा पड़ाव जॉन ड्राइडेन की तुलनात्मक समीक्षा दृष्टि से आरम्भ हुआ, जो सत्रहवीं शताब्दी में अंग्रेजी आलोचना में एक नया स्वर देकर साहित्यालोचन का जनक कहलाया। ड्राइडेन की संतुलित दृष्टि की समता उसके पूर्ववर्ती अथवा उत्तरवर्ती कोई आलोचक नहीं कर सके। उन्होंने 'साहित्यालोचन को एक गम्भीर साहित्यिक विषय बनाया।

सलहवीं शताब्दी में सर्वश्रेष्ठ फ्रांसीसी आलोचक बुअलो का पदार्पण हुआ। उन्होंने परम्परागत विचारों को प्रस्तुत कर उसे स्वच्छ, प्रभावशाली एवं आकर्षक बनाया। इस प्रकार विश्व साहित्यशास्त्र की यात्रा इंग्लैंड से फ्रांस की ओर उन्मुख हुई। पुनः अंग्रेजी आलोचना डॉ. (सैम्यूएल) सैमुएल जॉनसन के हाथों परिपक्व हुई, जिनका जन्म 18 सितम्बर, 1709 ई. में लिचील्ड में हुआ था। उन्होंने ग्राभर स्कूल में लैटिन और ग्रीक का अध्ययन

किया था। जॉनसन के लिए जो श्रेय था, वही प्रेय भी था–इस प्रकार श्रेय और प्रेय दोनों का बराबर महत्व था। अंग्रेजी साहित्यालोचन का पड़ाव इंग्लैंड से जर्मनी साहित्यकार गोइटे के साथ जर्मनी में स्थिर हुआ। गोइटे का साहित्य शास्त्रीय चिंतन, उनकी मर्मज्ञता, गहन वैदुष्य एवं विकासशील गुणग्राहकता का परिचायक है। टी.एस.इलियट की दृष्टि में गोइटे विश्व के इने–गिने मनीषियों में एक थे। एकबार फिर विश्व साहित्याशास्त्र की साहित्यिक आभा जर्मनी से होकर इंग्लैंड पहुँच गई तथा स्वच्छन्दतावादी कवि–समीक्षक कोलरिज के साथ सम्पन्न हुई यह तथ्य भी विचारणीय है कि स्वच्छन्दतावादी कोलरिज के चिंतन का स्रोत चाहे अठारहवीं शताब्दी का संयोगवादी अंग्रेजी मनोविज्ञान रहा हो या प्लाटिनस, नव प्लेटोवादी लेखक और कांट, शेलिंग, गोइटे जैसे जर्मन विचारक, उसपर उनकी निजी अनुभूति की अमिट छाप अंकित है। कुछ आलोचकों ने तो यहाँ तक कह दिया कि कोलरिज के काव्य–सिद्धान्त में जो कुछ भी है, सब कांट और शैलिंग का है।

उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप में अनेक प्रतिभावान आलोचकों का उदय हुआ, जिनमें सैंत व्यव भी एक थे। उनकी माँ इंग्लैंड की थी तथा उन्हें अंग्रेजी भाषा का ज्ञान भी था। उन्हें इटालवी भाषा अच्छी तरह आती थी तथा जर्मन भाषा से फ्रेंच में अनुवादित पुस्तकों पर भी उन्होंने आलोचनात्मक टिप्पणियाँ लिखी थी। सैंत व्यव के प्रयत्नों का परिणाम था कि फ्रांसीसी आलोचना को उसकी प्राचीन गरिमा प्राप्त हुई। इस प्रकार विश्व साहित्यशास्त्र की यात्रा ने इंग्लैंड से होती हुई फ्रांस में आकर अगला पड़ाव बनाया। यह भी ध्यान देने की बात है कि उसका प्रभाव सम्पूर्ण यूरोपियन और अमेरिकी चिंतन पर पड़ा। उसकी वैज्ञानिक और उदार दृष्टि ने उसको आलोचना जगत में सम्मानीय स्थान दिला दिया। तत्पश्चात् मैथ्यू आर्नल्ड अंग्रेजी युगप्रवर्तक आलोचक का अभ्युदय हुआ, जिन्होंने साहित्य–चिंतन को एक नई दिशा प्रदान की। सन 1850 से 1888 तक चार दशकों में आर्नल्ड ने अपने संस्कृति, काव्य, साहित्यालोचन–विषयक विचार प्रस्तुत किया। काव्यात्मक रुचि के प्रवक्ता आर्नल्ड के कारण ही इंग्लैंड में यूरोपीय साहित्य और संस्कृति का ज्ञान बढ़ा। बीसवीं शताब्दी में प्रसिद्ध आलोचक इलियट, लीविस, ट्रिलिंग आदि आर्नल्ड की परम्परा में उन्हीं समस्याओं से जूझते रहे, जिनसे आर्नल्ड उलझा रहे। आर्नल्ड विक्टोरियन युग के सशक्त आलोचकों में से एक थे।

विश्व साहित्यशास्त्र की साहित्यिक यात्रा का पड़ाव इंग्लैंड में आर्नल्ड के साथ सम्पन्न हुआ, जबकि अगला पड़ाव टालस्टॉय के साथ रूस में सम्पन्न हुआ। मानव करुणा का यह देवदूत 9 सितम्बर, 1828 में पैदा हुआ और 9 नवम्बर, 1910 को इस संसार से विदा हो गया। उनकी ज्ञानसाधना और साहित्य चिंता अद्‌भुत थी। टालस्टॉय काव्य का स्वरूप, कला का प्रयोजन, प्रतिमान, सम्प्रेषण, विधान, सम्प्रेष्य भाव, संक्रमण–सिद्धान्त आदि विषयों पर गम्भीर चिंतन–मनन करने के उपरान्त अपना विचार व्यक्त किया। साहित्यिक पड़ाव साहित्यालोचन के क्षेत्र में रूस में था, उससे आगे बढ़कर पुनः वाल्टर पेटर के हाथों इंग्लैंड में आ गया। पेटर का जन्म 1839 ई. में शैडवेल नामक स्थान पर हुआ था। वे सौंदर्य के सभी अभिव्यक्तियों और रूपों के प्रेमी थे। उनके विचारों पर प्लेटो और गोइटे का सर्वाधिक प्रभाव देखा गया है। पेटर कलावादी मूल्यों के प्रस्तोता है तथा कला समीक्षा में सौंदर्य को मूलाधार मानते हैं। तथ्यबोध की चर्चा में पेटर कोलरिज से प्रभावित हैं, जबकि शैली–विषयक विचारों में लोंजाइनस से प्रभावित हैं। एक बात निश्चित है कि अपनी आलोचनाओं में पेटर कोलरिज की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है और आर्नल्ड की अपेक्षा अधिक सुनिश्चित और सूक्ष्म भी हैं।

विश्व साहित्यशास्त्र को साहित्यिक यात्रा में अनेक उत्तम पड़ाव हैं, लेकिन इन पड़ावों में साहित्यिक यात्रा को अनेक देशों से तथा कई भाषाओं से होकर गुजरना पड़ा है। इंग्लैंड के बाद क्रोचे के साथ यह पड़ाव पुनः इटली में देखा गया है। 1866 ई. में हुआ क्रोचे आत्मवादी दार्शनिक हैं। अभिव्यंजनावाद क्रोचे की प्रसिद्धि का सबसे बड़ा आधार है। प्लेटो और अरस्तू की तरह क्रोचे कला का उद्‌भव न तो अनुकृति से मानते हैं और न शास्त्रवादियों की तरह नियमबद्ध यांत्रिका से। वे कला को स्वतः स्फुरित तत्त्व कहकर कलासृष्टि की अनुभूतिमूलकता और नियमानुवर्तिता–दोनों का खण्डन करते हैं। इस प्रकार सर्वथा आन्तरिक क्रिया सिद्ध कर क्रोचे ने कलाकार या साहित्यसर्जक को अतिरंजित महत्त्व दिया है।

आलेख

जीवन संघर्ष और संग्राम

रामकिशोर सिंह 'विरागी'
डॉ. एस के सेन पथ, पटना (बिहार)
मो.– 09006458372

जीवन संघर्ष और संग्राम में विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों का पग–पग पर सामना करना पड़ता है। इन विभिन्न परिस्थितियों में शायद ही कभी–कभी अपवाद स्वरूप अनुकूल परिस्थिति सामने आ पाती है और मन एवं हृदय में उत्साह और उल्लास का संचार कर जाती है। प्रायः ही सामान्य और विपरीत परिस्थितियाँ ही आती रहती हैं, जो मन को विचलित करती रहती हैं, हृदय अन्तःकरण के दुःखात्मक भाव से मथ करके रख देती है। फलतः जीवन विषाद, अवसाद से भरता रहता है– भर जाता है।

बच्चा जन्म लेता है। हँसता–खेलता रहता है। माता–पिता, दादा–दादी, नाना–नानी आदि परिवार के सदस्यों के साथ आनंद, उत्साह, उल्लास और उमंग का जीवन व्यतीत करता है या होता है। मन और जन्तःकरण में बच्चा होने पर सब किसी को अपना ही मानता है–अपना ही समझता है और अपना परम हितैषी समझता है। यह तथ्य सही भी है कि उस समय उसके निकट परिवार में हितैषी ही होते–अन्तःकरण के स्तर पर। कोई–कोई ही परिवार में अपवाद स्वरूप उस बच्चा के प्रति कलुषित और विपरीत भाव मन में किसी कारण पाल करके रखता है। बच्चा होने के कारण प्रायः वह किसी के अन्तर्भाव को आंतरिक तौर समझ नहीं पाता है। वह बाहरी और दिखावटी प्रेम, प्यार और दुलार के व्यवहार के कारण हर किसी को अपना प्रिय और हितैषी ही मानता है।

परंतु, यही बच्चा जब बड़ा होने लगता है जब–होश सँभालता है, तब उसमें बुद्धि और विवेक का जागरण होने लगता है। लोगों के दिल–दिमाग के भाव को समझने लगता है, तब उसमें जागृत्ति आने लगती है। लोगों को वह समझने लगता है कि लोग मेरे प्रति वास्तव में क्या भाव और विचार रखते हैं। बाहर से क्या बोलते हैं। भीतर से क्या सोचते हैं?सामने क्या करते हैं?भीतर से क्या सोचते हैं?पीछे में क्या बोलते हैं और क्या करते रहते हैं?जब यह समझदारी विकसित होने लगती है, तो लोगों को, अपने परिवारवालों को, अपने आसपास वालों को समझने लगते हैं। यह कि ये लोग आखिर मेरे बारे में क्या सोचते हैं?क्या विचार रखते हैं?क्या चाहते हैं?

क्या चाहते हैं?–आखिर मेरे बारे में हित की बात प्रायः
नहीं ही चाहते हैं। अन्तःकरण से मेरे बारे में हित की बात नहीं चाहते हैं। मेरे बारे में वे जो कुछ भी बोलते हैं–जो कुछ भी करते हैं–वे सब कुछ अपने अन्तर्मन से अपने हित को ध्यान में रखकर
ही करते है। ऐसे मेरे मन में भ्रम बनाते हैं कि हम जो कुछ भी कर रहे हैं, वे तुम्हारे हित के लिए ही कर रहे हैं। ताकि भ्रमवश समझ जाय कि यह मेरा हितैषी है। परंतु जो भी हित की बात वह करता है, वह मुझसे आगे चलकर अपने लिए मुझसे लाभ की चाहत रखकर ही करता है। यह चाहना–अगर आगे चलकर पूरी नहीं होती है, तब वह विपरीत विचलित होना शुरू हो जाता है। यहीं से किसी के जीवन में–संघर्ष और संग्राम का आना हो जाता है। जहाँ उसे महाभारत की भीषण लड़ाई लड़नी पड़ जाती है। सम्पूर्ण जीवन संघर्ष और संग्राम में ही व्यतीत हो जाता है या होने लगता है।

बच्चा से बड़ा होता है। बड़ा होकर आगे बढ़ने की बात सोचता है। अपने लिए अच्छा–से–अच्छा करना चाहता है–करने लगता है भी–करता भी है। तब लोग बाधा–पर–बाधा खड़ी करना शुरू देते हैं। भीतर–ही–भीतर टाँग खींचना शुरू कर देते हैं और उसको पता चलता भी नहीं है। भीषण रूप से उसके साथ भीतरघात होता है। वह घायल होकर मरणासन्न हो जाता है। मरण तुल्य कष्ट को भोगता है। मर भी जाता है, परंतु लोग बाहरी और ऊपरी तौर वाह–वाही करते रहते हैं। इन सब बातों को वह कुछ भी नहीं समझ पाता है। अपने लिए सबको हितैषी मानकर– वह धोखा–पर–धोखा खाता है। चूँकि यह संसार छल, कपट, प्रपंच, साजिश, षड्यंत्र से भरा पड़ा है। अपवाद में ही कुछ लोग जहाँ–तहाँ – एक–दो धार्मिक और आदर्शवादी हैं, जो किसी के लिए हितैषी हो सकते हैं।

फलतः जैसे–जैसे कोई बढ़ता है–अपने सामने संसार में विपरीत वातावरण को ही देखता है। इस जगत में छल–छद्म, प्रपंच, कपट का इतना मीठा जहर फैला हुआ है कि उस मीठा जहर को लोग पी या खा लेते हैं। वाग्जाल (वाणी का जाल) है– जाल–जंजाल है कि एक सीधा, सरल स्वभाव और प्रकृति वाला उसमें फँस ही जाता है। किसान खेतों में फैले हुए–चूहे को मारने के लिए पहले आटा या सत्तू में मीठा मिलाकर खिलाते हैं और जब चूहा को विश्वास और भरोसा हो जाता है कि यह मीठा है, तब उसके बाद–भ्रम में डालकर उसमें जहर भी मिला देते हैं। चूहा विश्वास और भरोसा में आकर मीठा के साथ मिला हुआ जहर भी खा लेता है और मर जाता है। इस संसार के लोग भी पहले अच्छा करके विश्वास और भरोसा मन में पैदा कर देते हैं और विश्वास और भरोसा बन जाने के बाद उसके साथ–धोखा, विश्वासघात और भीतरघात करके बर्बाद, तंग, तबाह करते हैं। वह मर भी जाता है या मरण तुल्य कष्ट भोगता है। सशरीर जीवित रहते हुए भी उसका जीवन–जीवन नहीं रह जाता है, उसका मरण ही हो जाता है। इस तरह जीवन–संघर्ष और संग्राम में बच पाना बड़ा ही मुश्किल होता है।

जीवन संघर्ष और संग्राम से बचने के लिए–अध्यात्म विद्या का सहारा लेना पड़ता है। आध्यात्मिक शक्तियों का अंदर में (अपने में) जागरण करना पड़ता है। ईश्वर से संबंधित–चिंतन, मनन, ध्यान, स्मरण, स्वाध्याय और सत्संग से ही आध्यात्मिक शक्तियों का जागरण होता है। तब कहीं जाकर–आंतरिक मनोभावों को जानने और समझने में सुविधा होती है। अन्य किसी के वाग्जाल, जाल–जंजाल से बच सकते हैं। परंतु इसमें सदैव सजग और सतर्क रहना पड़ता है। अध्यात्म के कारण भी अगर अंधाधुंध विश्वास और भरोसा किया जाता है, तो वहाँ भी धोखा मिलता है। भगवान को रावण धोखा देकर ही सीता का अपहरण कर सका है। हनुमानजी को कालनेमि साधु का वेश बनाकर धोखा देने लगा, परंतु हनुमानजी सजग और उतर्क होकर धोखा से बच सके। ईसा मसीह का अपना शिष्य ही साजिस में शामिल था, जब वे सूली पर चढ़ाए जानेवाले थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती को अपना नौकर, जो रसोई बनानेवाला था–दूध में शंखिया जहर देकर मार दिया। इस प्रकार भगवान, देवता, पंत, महात्मा आदि अवतार की जब आध्यात्मिक होते हुए भी अगर सजग और सतर्क नहीं रहते हैं, तब धोखा खा जाते हैं। हानि–पर–हानि उठाते रहते हैं। उन्हें भी–उन्हें अंधाधुंध आध्यात्मिकता का दुष्परिणाम भोगना पड़ता है। अतः अध्यात्म जगत में रहते हुए भी सदैव सतर्क रहकर ही जीवन में अच्छा परिणाम और लाभ को प्राप्त किया जा सकता है।

अध्यात्म और साधना का सहारा लेकर जीवन में आगे बढ़ा जा

सकता है, परंतु यह नहीं मान लेना चाहिए कि मुझे यों ही आकर कोई बढ़ा देगा। जिस क्षेत्र '(काम या लक्ष्य) में आगे बढ़ना है–वहाँ स्वयं ही अपने सूझ–बूझ और विवेक से काम करना पड़ता है। काम करते हुए बढ़ता है। कहीं सहारा मिलता है और कहीं सहारा नहीं मिलता है; परंतु किसी सहारा की आशा के बिना ही सक्रिय और कर्मठ रहना है। असफलता का सामना करते हुए, सफलता की आशा मन में बनाए हुए रखना है। सफलता की आशा मन में बनाकर ही काम करते रहना है। काम करते जाना है।

जीवन–संघर्ष और संग्राम में अन्य का सहारा लिया जाता है या यों ही मिलता है–मिल जाता है–मिला करता है; परंतु उस सहारा पर विश्वास और भरोसा नहीं रखना है। केवल अपने कर्तव्य कर्म (धर्म) को सम्पन्न करते जाने पर ही विश्वास और भरोसा रखना है। इसके साथ ही जीवन–संघर्ष और संग्राम में हम किसी अन्य को भी सहारा देते हैं। वह मेरा सहारा पाकर आगे बढ़ता है और ऊँचाई पर जाता है या चला जाता है और मैं नीचे ही रह जाता हूँ उसके सामने। परंतु यह कभी भी नहीं मन में विश्वास और भरोसा रखना या बनाना चाहिए कि वह इस सहारा के बदले सहारा एक दिन देगा ही। वह दे भी सकता है और नहीं भी दे सकता है। परंतु मुझे ऐसी आशा नहीं करनी चाहिए। प्रायः सामान्य तौर पर आगे बढ़ जाने बाला और ऊँचाई पर पहुँच जाने वाला भूल ही जाता है। अपने से नीचे और पीछे छूट जानेवाला को चाहे नीचे रहने पर और पीछे छूट जाने वाला–उसको बनाने में और ऊँचाई पर पहुँचाने में कितना भी क्यों न सहारा दिया हो– देता रहा हो। वह अपनी समानता और बराबरी करनेवाला को ही मान–सम्मान और सहारा देता है। पहलेवाले को भूल जाता है। इसीलिए यह भ्रम नहीं पालना चाहिए कि हम उसे सहारा दिए हैं, तो वह भी सहारा देगा ही। स्वयं अपने को आगे बढ़ाते रहने और ऊँचाई पर ले जाते रहने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। यही अपने लिए मंगल और कल्याण का मार्ग है। अपने आगे बढ़ेंगे और ऊँचाई पर चढ़ेंगे, तो ही अपने को मान–सम्मान मिलेगा, अगर अपने को लोग पूछेंगे। तो अपने–अपने हित की आशा से ही। बस, जीवन–संघर्ष और संग्राम में इन्हीं बातों और तथ्यों की ओर ध्यान देना है–और देते रहना है।

कविताएँ

आलोक भारती
मधुबनी (बिहार)
मो.–8292350609

जाना भवसागर पार

झीनी–झीनी ओढ़ी रे चुनरिया
सितारों टंकी भीनी चुनरिया
हर्षित विदाई की है ये बेला
अँखियाँ कजरारी लाल चुनरिया

समझा न दर्द हुई न कोई बात
अनंत नींद में खोई सजनिया
मांग सिंदूर शोभे बिंदी दुल्हिनिया
कर न सकी आपन पीड़ा बखान

चली यूँ बिरहा परिजन सुदूर
चल रहा प्रकृति का चक्र क्रूर
रखे विदा को अंतिम श्रद्धा सुमन
विधना ना बाँटे पीड़ा ऐ सखी

लाज मौनव्रत का संकल्प रखो
जाना है दूर ठिकाना अनजान
सजनी बिन दुनिया लगे बेजान
अंतस पीड़ा तेरी कौन सुने यहाँ

लगी जमात घूमते बेगाने वहाँ
लाठी टेक गमगीन हो चला पथिक
देख लूँ, तुझे बस अंतिम इक बार
झीना धागा बिखरा बारम्बार

विह्वल अंतस के सुध लियो न जाय
पीड़ित दिल का दर्द बाँटे न कोय
विलग हुए परिजन जाना उस पार
जाना है अकेले भवसागर पार।

जाना है उस पार

जीवन के उस पार, बैठा दूर खेबैया
जाना है उस पर, मझधार मेरी नैया
जाना है उस पार...

डूबे–उपलाए, खाती हिचकोले नैया
ऊफनी नदी, फँसी जान...भरे पानी भैया
कैसे लगे बेड़ा पार, बता मेरी मैया
जाना है उस पार...

जग ने छोड़ा, तन भी छोड़ा, फँसी मझधार
दिखा नहीं तेरे सिवा, दूजा मददगार
सुध ले भगत की आज, ले लूँ तेरी बलईयाँ
जाना है उस पार...

अन्त घड़ी की सोच, आयी न समय पर काम
ठहरा समय, हुए व्यस्त, प्रयास नाकाम
तेरा ही बस आसरा, मन मंदिर बसैया..
जाना है उस पार....

खिली चहूँ चाँदनी, मायावी जाल बुनती...
चमक रही दामिनी, पंक्षी कण हिम चुनती
वसुंधरा हर्षित हुई, कैसी रीत रचैया
जाना है उस पार...

चले जब नाव, चलती हरपल नाविक मरजी
सुन ले तू भी जरा, पहले मेरी इक अरजी
कैसा मन भरमाया, चितचोर बसैया
जाना है उस पार...

स्वजन, बंधुगण, जगत ने भी किया किनारा
हुए सभी नक्कारे, बचा तेरा सहारा
दीनों के दीन, बैठा दूर देखे रवैया
जाना है उस पार।

कहानी

एक प्रति साम्य

बसन्त राघव
पंचवटी, बोइर–दादर, रायगढ़ (छ.ग.)
मो. 831939396

भोर से ही धारासार वर्षा होने लगी थी। आठ बजते–बजते कुछ थमी। साढ़े सात बजे से क्लास लगती थी और इस तरह में आधा घंटा लेट हो गया था। मैं धर्मसंकट में पड़ा रहा. कालेज जाऊँ कि नहीं। अक्सर ऐसा होता है, जिस दिन अधिक बारिश होती, उस दिन शहर से तीन किलोमीटर दूरस्थ महाविद्यालय बंद हो जाता।

पहाड़ियों से घिरी हुई कॉलेज की बिल्डिंग थी। यहाँ सिर्फ स्नातकोत्तर कक्षाएँ ही लगती थीं। सिर्फ तीन विषय थे– राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र और हिंदी। बहरहाल कुछ सोचकर मैंने कॉलेज जाने की तैयारी कर ली। रेनकोट डाले और साइकिल बाहर निकाल ली।

कॉलेज पहुँचते–पहुँचते काँटा नो पार कर लिया। कॉलेज के सामने कुछ लोग फुहारों का आनंद लेते हुए मिल गए। बड़ा सुकून मिला। यद्यपि मुख्य द्वार तक पहुँचनेवाला इकलौता मार्ग जलमग्न था, इससे मन थोड़ा खिन्न हो गया। ऐसी स्थिति में छात्राओं को विशेष परेशानी यह होती है कि अगर ये साड़ियों में
होतीं, तो पिंडली तक साड़ियाँ उठानी पड़ती। बगल में कॉपी– किताब दाबनी पड़ती और एक हाथ में चप्पल भी उठानी पड़ती।

कभी–कभी ऐसा भी होता है कि जब लगातार चार–पाँच दिनों तक झड़ी का आलम होता। बिल्डिंग के चारों ओर पानी भर जाता और तब कन्याकुमारी में बने विवेकानंद स्मारक का चित्र निर्मित हो जाता।

पिछले दो सालों से संस्था के सामने यह बात उठायी जा रही थी कि कॉलेज के सामनेवाले भाग को मिट्टी से पाटकर मुख्य द्वार तक पक्का रास्ता बना दिया जाए, पर न जाने क्यों किसी का ध्यान इस जरा सी बात पर भी नहीं आया। उल्टे लोग नजरबाग देखने के लिए चले आते थे। खैर, मैं रिसेस के वक्त पहुँचा था। जैसे ही मुख्य द्वार में प्रविष्ट हुआ, एम.ए. पूर्व (अर्थशास्त्र) के छात्र जयंत दास ने धीरे से कहा–''अरे, पटेल सर! आप कैसे चले आए?'' मैंने मुस्कुरा कर कहा–''क्यों मुझे नहीं आना चाहिए था?''

वह और भी पास आ गया और करीब–करीब कान के पास मुँह सटाकर बोला–''पटेल सर! आप उल्टे पाँव लौट ही जाएँ तो ही अच्छा है।''
''परन्तु क्यों?'' मैंने झल्लाकर प्रति प्रश्न किया।
वह भी उसी तर्ज में बोला–''मैं पूछता हूँ, क्या आप दाल–भात में
मूसलचंद बनना पसंद करेंगे?''
दास वहीं पर रूक गया। मैं उसकी तरफ देखने लगा। दास कह रहा था–''अब भी नहीं समझे सर?'' और वह जोर से हंस दिया। मैं उससे पिण्ड छुड़ाकर आगे बढ़ना ही चाहता था कि वह खुल गया–''पटेल सर! डिपार्टमेंट में मजनू साहब अपनी लैला को मोहब्बत का पाठ पढ़ा रहे हैं।''
मैं क्लास रूम की ओर बढ़ गया, परन्तु मेरे कानों में जयंत दास के ईर्ष्या जनित आक्रोश में जलते हुए शब्द लगातार बज रहे थे। मदन चपरासी क्लास रूम में ताला लगा ही रहा था। सहसा मुझे देखकर रूक गया और बोला–''आज कोई नहीं आया, पटेल सर! आप फालतू चले आए।''
मदन बड़ा मसखरा और मुँहफट था। उसने दरवाजा खोल दिया और कुर्सियों को झाड़ते हुए कहा–''ये हिन्दी वाले होते ही हैं बहानेबाज, जरा–सा पानी गिरा नहीं कि कॉलेज आना छोड़ देते हैं।''

मैंने उसे कुछ डपटकर कहा–''मदन! तुम सच बोल रहे हो? कोई नहीं आया?''
वह कुछ सकपका गया फिर बायीं आँख दबाकर बोला–पटेल सर! इनकी बात छोड़िए, ये तो इतवार को भी चले आते हैं। इनका वश चले, तो ये लोग गर्मी की छुट्टियों में भी क्लास लगा दे.....।'' मदन चपरासी बाहर चला गया।
खिड़कियों से हवा का आर्द्र झोंका भीतर प्रवेश कर रहा था। दूरस्थ क्षितिज धुंध में डूबा हुआ था। उधर बारिश अब भी हो रही थी। इधर अब धूप खिलने लगी थी चिड़ियों के पर जैसे नर्म–नर्म। मेरे भीतर कुछ गडमड होने लगा था। लैला–मजनू! यानी उषा माथुर और धनजंय वर्मा। मि. धनंजय वर्मा हाल ही हिन्दी विभाग में व्याख्याता नियुक्त हुए थे। इसी शहर के रहने वाले और मिस उषा माथुर डी.एफ.ओ नरेन्द्र माथुर की बहन, एम.ए. अंतिम की छात्रा–ये दो नाम इन दिनों शहर में बहुत मशहूर हो रहे थे। लड़के–लड़कियों के बीच इनके तथाकथित रोमांस की चर्चा आम थी। कॉलेज की दीवारों पर इन दोनों के नाम दिल के चित्र के साथ जगह–जगह लिखे हुए थे। पेशाब घरों में इनके अनेक कोणों से कार्टून तक बनाए गए थे।

उनके संबंधों का स्वरूप चाहे जो हो, लोग उसे प्रणयमूलक ही समझते थे। इतना तय था–मि. वर्मा का उठना–बैठना माथुर परिवार में होता था। अतः उनके संबंधों में यदि प्रगाढ़ता आ गई, तो कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। हो सकता है लोगों की धारणा गलत न हो। समाजशास्त्र का सिद्धांत है–जहाँ चिनगारियाँ हो, वहीं धुआँ उठता है।

सोचा कि घर वापस लौट जाऊँ, परन्तु यह सोचकर कि इतने प्रयत्न से यहाँ तक आने और चुपचाप लौट जाने में कोई तुक नहीं था, बल्कि उल्टे कर्तव्यपरायणता पर प्रश्नचिह्न उगता। मैं डिपार्टमेंट की ओर अपने आपको लगभग ढकेलता हुआ–सा चला गया।

परदा हटाकर अंदर का मुआयना किया। मि. वर्मा मद्धिम स्वर में कुछ फरमा रहे थे और मिस माथुर बड़ी तन्मयता से सुन रही थी। मैं उलटे पाँव लौट जाता, परन्तु मि. वर्मा ने शायद मार्क कर लिया था। अतः कहना पड़ा–''मे आई कम इन सर?''

बातचीत का क्रम टूट गया था। हल्की–सी खीज की रेखाएँ उनके चेहरे पर उभर आयी थी। इसके बावजूद फीकी मुस्कान के साथ उन्होंने स्वीकृति दे डाली–''कम इन।''

जंगली हवा का एक अल्हड़ और मदमस्त झोंका खिड़कियों के रास्ते भीतर चला आया और दरवाजे से परदे को उठाते हुए बाहर चला गया। मि. वर्मा और मिस माथुर आमने– सामने बैठे हुए थे। मिस माथुर की बगल में कुछ कुर्सियाँ खाली पड़ी थीं। मैं एक कुर्सी के हत्थे पर हाथ रखकर खड़ा रहा।

लेक्चरर महोदय खिड़की से उस पार निहार रहे थे, शायद अनन्त आकाश की ओर! और मिस माथुर किताब के पन्ने उलट–पुलट रही थी। मुझे अखर रहा था–नाहक चला आया। सारा वातावरण ही तन गया। कुछ देर तक कमरे में चुप्पी छायी रही। आखिर चुप्पी तोड़ने के लिहाज से वर्मा जी ने कहा–जैसे अपने आप से कह रहे हों–''कम्बख्त बादलों का भी कोई टाइम टेबल नहीं, जब जी चाहा बरस लिया।''
उषा माथुर ने कुछ कहना चाहा, पर होठ भींचकर रह गई। वातावरण थोड़ा और तन गया। मैं बोर होने लगा था, इसलिए वहाँ से निकल भागने का बहाना ढूंढ़ने

लगा, परन्तु वर्मा तभी दार्शनिक मुद्रा में कहा–''मि. पटेल! मुझे आपसे खास बात करनी है।''

''खास बात और मुझसे सर?'' अचानक मेरे मुँह से निकल गया। मैं उनके चेहरे पर कुछ खोजने लगा। इस बीच मिस माथुर ने मेरी तरफ देख लेने का रस्म पूरा कर लिया था। वर्मा जी कह रहे थे–''मैंने तुम्हारी कहानी पढ़ी है–'रसवन्ती' में। वह कुछ देर चुप रहकर–''बोले मैं सोचता हूँ, तुम्हारी अन्त:दृष्टि सत्य को पहचानने में धोखा खा गई है। माफ करना, मुझे स्पष्ट कहने की आदत है–''भई! तुम्हारे पात्र बिल्कुल अस्वाभाविक लगते हैं और जिन विचारों को तुमने उनके माध्यम से अभिव्यक्त किया है, वे मूलत: असंगत है....तुम्हें नहीं लगे?''

मैं मुस्कुरा भर दिया। मुझे लगा, जैसे वर्मा जी किसी आलोचना की किताब से कोई उद्धरण सुना रहे हैं–रटे रटाए।

मैं और भी उनसे कुछ सुनने की आशा करता, उससे पूर्व वे चुप होकर निर्निमेष मेरी ओर देखने लगे। न जाने क्यों, वे उस समय बड़े निरीह से लग रहे थे। मैंने उन्हें सहारा दिया–''हो सकता है, सर! आपकी बात सच हो। तो मैं समझ लूँ इस आक्षेप में आपकी कोई खास बात अन्तर्निहित है?या कुछ और ही आपको कहना है?''

मैंने देखा, उनकी आँखों में एकाएक चमक आ गई है, वह कुछ कहते उसके पूर्व ही मैने कहा–''देखिए, सर! जहाँ तक मेरे पात्रों के अस्वाभाविक होने का है, तो आप समझ लें मैंने उन्हें अस्वाभाविक ही प्रस्तुत किया है। अस्वाभाविकता उनकी विशेषता है। आप तटस्थ होकर यह देखें कि उनकी सृष्टि स्वाभाविक ढंग से हुई है या नहीं?''

मैं चुप हो गया था। वर्मा के माथे पर बल पड़ने लगे थे, लगा कि वह कुछ सोचने लगे हैं। शायद उनको किसी ऐसे छिद्र की तलाश थी, जिसमें से होकर उनकी आलोचना बाहर निकल सकती।

मुझे वहाँ रुके रहना, बेहद अखर रहा था। बाहर धूप उग आयी थी। हलका–हलका धुँआ उठ रहा था। कितना मनोरम परिदृश्य था बाहर। काश कि धूप का एक टुकड़ा हमारे अंदर आ जाता और हम अपने अंदर की अंधेरी गुफाओं का रहस्य समझ पाते। कई अनदेखी खोहों के भीतरी भागों में छुपे हुए अनदेखे चेहरों को देख पाते।

वर्मा जी कुछ कहने लगे, तो मैं चौंक गया–''देखिए मि. पटेल! मेरा उद्देश्य आपकी कहानी की आलोचना करना नहीं था। मैं तो सिर्फ यह कहना चाहता था कि आप एक लेखक हैं, किसी भी तरह की घटना और पात्रों की रचना करने के लिए स्वतंत्र है फिर भी आपको नहीं भूलना चाहिए कि आपके पात्र किसी के जीवन और कार्यों से पूर्णत: सम्बद्ध न लगे। किसी को भी यह न लगे कि यह कहानी उसकी है, उससे संबंधित है...।''

वह मेरी तरफ देखने लगे, जैसे में उनकी बात सुन रहा हूँ या नहीं। इस बीच मैं उषा माथुर के बगल की खाली कुर्सी पर बैठ गया था। वर्मा जी थके से नजर आने लगे थे और में सिर्फ और सिर्फ उन्हें सुनना चाहता था। मुझे यों चुप देखकर वे बोले–''मि. पटेल! आप बुरा न मानें, तो एक और बात स्पष्ट कह दूँ।'' उनके स्वर में क्रमश: आवेश आते जा रहा था। बदलते हुए संबोधनों से भी यह जाहिर हो रहा था।

''क्या यह सच नहीं कि आपने कथा नायक के रूप में जिस लेक्चरर को चित्रित किया है और कोई नहीं मैं ही हूँ, मैं, सिर्फ मैं। मि. वर्मा.... जिन घटनाओं का उल्लेख आपने किया है, वे सीधे–सीधे मुझसे संबंधित है। मि. पटेल! मैं सब समझता हूँ–सलेक्शन कमिटी को रिश्वत देकर इस पोस्ट को झटक लेना... अपनी स्टुडेंट के साथ रोमांस का जो आपने जिस विद्रूप का चित्रण किया है...इन सबके मूल में क्या लेखक की कुंठा और प्रतिशोध भावना झलकती नहीं है?''

मैंने देखा, वे हाँफ रहे थे। लगता था जैसे वह पूर्णत: रीत गए हैं और उषा माथुर मुझे इस तरह देख रही थी, जैसे मेरे द्वारा (तईं) उनका कोई अनिष्ट हो गया हो। वह बहुत देर से कुछ कहना चाह रही थी, परन्तु कह नहीं पा रही थी। होठ भींचकर रह जाती। भला वह क्या बोलती?मैं सोचता था–यदि ऐसा होता तो क्या मैं बर्दाश्त कर पाता?मैंने कहा–''एक्सक्यूज मी सर! कहानी कहानी होती है, पेपर में छपनेवाली न्यूज रिपोर्ट नहीं। जाने–अनजाने कोई पात्र किसी व्यक्ति के कैरेक्टर से साम्य रखते हों, इसमें अस्वाभाविक कुछ भी नहीं है। इतनी बड़ी दुनिया है। आप लाख असाधारण कैरेक्टर की कल्पना कीजिए, किसी–न–किसी व्यक्ति में अनायास मिल ही जाएगा।

वैसे भी लेखक अपने चतुर्दिक से कटकर नहीं रह सकता। वह जो कुछ अपने आस–पास देखता है, उसे अनुभव करता है, उसे जीता है और उसे ही लिखता है। जिन घटनाओं और दृश्यों को वह देखता है, उन्हें यथावत् प्रस्तुत नहीं कर सकता। उसकी कल्पना उन्हें कई रंगों में बदलकर रख देती है।''

''सर! मुझे खुशी है कि मेरे पात्र पाठकों को उद्वेलित करने में समर्थ है, उन्हें कुछ सोचने के लिए मजबूर करते हैं, वर्ना आप कैसे कह पाते कि उस कथा के नायक आप ही हैं।

मि. वर्मा लगातार सिगरेट पिए जा रहे थे। फैलता हुआ धुआ मैं सिर्फ देख नहीं रहा था, बल्कि सुन भी रहा था; क्योंकि मि. धनंजय वर्मा के मन पर पड़नेवाले प्रभाव और तज्जन्य प्रतिक्रिया शाब्दिक न होकर धुँए के रूप में बाहर निकल रही थी। अंत में मैंने कहा–''सर! गुस्ताखी माफ हो. आप मेरे उम्र से कुछ साल ही बड़े
हैं। दोस्त–से है, अत: मैं भी बिना लाग–लपेट के कहना चाहूँगा कि संभव है, उस कहानी के नायक को रूपाकार देते समय आप मेरे 'सर्जक' के सामने रहे हों, पर आप जरा सोचिए मैंने पेशाब घरों में, सड़ांस में... या कॉमन रूम की दीवारों पर आपको कार्टून तो नहीं बनाये न?आपके नाम के साथ किसी नाम को तो नहीं जोड़ा न?मुझे विश्वास है, आप शायद मेरी भावनाओं को समझ रहे होंगे।''

सामने की दीवार पर लगे हुए बेल्जियम के दर्पण पर उषा माथुर पंचायत प्रतिबिंबित हो रही थी। मैं न चाहते हुए भी उस तरफ देखने के लिए विवश था। उस अक्स में कुछ ऐसा था, जो बरबस खींच रहा था। में इस लाघव के साथ उसे देख रहा था
कि मेरे देखने को न मिस माथुर देख रही थी और न ही मि. वर्मा। चूंकि मिस माथुर अपना सिर झुकाए हुए थी और मि. वर्मा खिड़की से बाहर कहीं दूर देख रहे थे, बिलकुल अपने में खाये हुए। मुझे लगा जैसे मिस माथुर मुस्कुरा रही है। टेबल पर रखी हुई वीनस के कटे हाथ वाली संगमरमर की अधनंगी मूर्ति को मिस माथुर इस तरह घूर रही थीं, गोया उसे अवचेतन की काई ग्रंथि उछलकर बाहर आ गई हो–उस वीनस की मूर्ति के रूप में...।

हम तीनों मौन थे, परन्तु हमारे मौन में इतनी मुखरता था कि लग रहा था वातावरण में शब्दों की गड़गड़ाहट हो रही हो...लग रहा था कान के परदे अब शायद फट जाएँगे। मिस माथुर की दृष्टि धीरे–धीरे उठी और प्रश्निंत होकर दर्पण पर केन्द्रित हो गयी और हम दोनों की नजरें गुत्थमगुत्था हो गईं...सहसा समझ नहीं आया, यह दृष्टि–सृष्टि थी या सृष्टि–दृष्टि। हम चाहकर भी अपनी–अपनी नजरें झुका लेने या अलग कर लेने में असमर्थ रहे। माना कि वे हमारे प्रतिबिम्बों की नजरें थीं आईना के मार्फत।

कहानी

जीवन के राग-विराग

अनिता रश्मि
डोरंडा, राँची, झारखण्ड

मणिकर्णिका घाट! सामने जलती हुई एक ताजी चिता। सीढ़ियों पर बैठे चंद लोग उनमें वह भी...निशांत! ...निराश, हताश उसके हाथ में एक शहनाई। वह शहनाई को सीने से लगाए अजब असमंजस में घिरा है। घर से शहनाई उठाकर ले आया था। मात्र इसलिए कि जब बजानेवाला ही नहीं रहा, तो उसकी सबसे प्रिय चीज उसके साथ ही भेज दी जाए।

शहनाई उठाकर निशांत ने जैसे चिता की तरफ हाथ बढ़ाया, किसी ने हाथ धाम लिया।

–नहीं, इसे ना जलाओ। यह उसकी निशानी है।

एक मन कहे–मासूम की प्यारी वस्तु उसके साथ ही जानी चाहिए।

दूसरा कहे–मासूम की प्रिय वस्तु को अपने पास सहेजकर रख लो आख़िर इसमें उसकी आत्मा बसती है। इसमें उसका स्पर्श, उसकी गंध छिपी है।

इतना सोच अपने मन को सांत्वना–सा देते हुए निशांत ने शहनाई को गले से लगा लिया।

निशांत पिछले तीस वर्षों से शहनाई का जाना–पहचाना नाम है। उसके प्रेरणास्रोत सुप्रसिद्ध शहनाईवादक बिस्मिलाह खाँ रहे हैं। निशांत भी विश्वनाथ मंदिर को जाती, तंग गलियों से गुजरते हुए जैसे शहनाई की मिठास में उब–चुभ करने लगता है।

उसे लगता, जैसे आज भी गंगा–जमुना संस्कृति के महत्त्वपूर्ण सुरीले वाहक बिमिल्लाह खाँ की शहनाई की मधुर ध्वनि मंदिर के अंदर गूंज रही है। यह भाव विभोर हो उन्हें सुन रहा है। निशांत की आँखें मुँद जाती और वह देवालय की सीढ़ियों पर बैठा सुरों के बादशाह को अपने अंदर उतरते हुए महसूस करता रहता। बहुत देर बैठकर वहीं उनकी धुन में मगन रहता। सजदे में उसका सर झुका रहता। विश्वनाथ भगवान और बिस्मिल्ला खाँ दोनों के।

कितनी–कितनी देर मंदिर में बैठे रहने के पश्चात् निशांत गंगा तट की ओर चल देता। वहाँ शहरों के पास बैठ घंटों शहनाई बजाता रहता। देवालय में बजाने की हिम्मत नहीं, लेकिन काशी के पावन गंगा के तट पर उसकी शहनाई की धुन गूँजती रहती। वह पद्मश्री साहब की ऊँचाई तक तो नहीं पहुँच पाया, परन्तु खाँ साहब को जिंदा रखने के लिए संगीत कला केन्द्र खोल प्रशिक्षणार्थियों के अंदर इस कला को जीवित रखने की कोशिश करता।

एक दिन निशांत ने पत्नी से कहा था–

''सोचता हूँ नौकरी छोड़ दूँ। तुम सब सँभाल लोगी?''

''हूँ, आप जैसा चाहें।''

उसकी सहमति से उत्साहित हो. उसने अपना पूरा वक्त शहनाई को समर्पित कर दिया था।

संगीत कला केन्द्र में चार बैच का प्रशिक्षण शुरू। उसकी ख्याति दूर–दूर तक फैली। निशांत ने काफी होनहार शहनाईवादक तैयार किए। उसके अनगिनत शिष्य देश–विदेश में नाम कमा रहे हैं।

निशांत का पुत्र अंकुल जब बहुत छोटा था, उसकी शहनाई को हाथों से बड़े प्यार से छूता रहता। निशांत जब रियाज करता, वह मुस्कुराते हुए घूमता रहता। कभी उसकी तरह ही अंकुल होठों से शहनाई को लगा लेता.... पूत के पाँव पालने में नजर आ रहे थे।

लेकिन बड़ा होते हुए उससे दूर भागने लगा था। पता नहीं क्यों, शहनाई जब घर में मधुरता घोलती, अंकुल वहाँ से लॉन की ओर भाग जाता।

दस वर्ष का था। जब निशांत ने शुभ्रा से कहा था–आज से इसकी तालीम शुरू। यह मेरे साथ डेली सुबह–शाम के प्रैक्टिस के लिए तैयार रहे। उसने शहनाई अंकुल को पकड़ाया था। अंकुल ने पहले तो उसे उलट–पुलटकर गौर से देखा था, जैसे पहचानता ही नहीं। फिर हँसकर फेंक दिया था जमीन पर

''यह सीख पाएगा?''

शुभ्रा की आशंका निर्मूल नहीं थी।

''अभी साथ बैठना शुरू करे पहले। रस्सी से जब पत्थर घिस सकता है, तो कुछ भी हो सकता है शुभ्रा!

दूसरे दिन से ही अंकुल को सिखाने की कोशिश करने लगा निशांत। वह निशांत के पास बैठ फूक मारने का प्रयास करता रहता था। कभी–कभार पीं ऽ ऽ ईं....पीं ऽ ऽ ईं!

दसे साल बाद अंकुल के अभ्यास, निशांत की अथक मेहनत का फल मिलना शुरू हो गया था। बारह वर्ष बाद दोनों साथ प्रोग्राम में जाने लगे थे। सुरों की जुगलबंदी में श्रोता मस्त। अलग–अलग समय में राग भैरवी, कल्याण, ललित तो मुलतानी रागों की धार बहती रहती। भीमपलासी भी तो। दक्ष हो चला था अंकुल भी। घंटों संगीत साधना चलती रहती। रात को रात, दिन को दिन नहीं समझा इन सच्चे सुर साधकों ने। जब दोनों साथ में शहनाई को होठों से लगाते, रागों की गंगा बहा देते। सच्चे सुर प्रेमियों की आँखों से आँसू बहने लगते। सुर धार में महफिलें आनंदातिरेक में गोते लगातीं।

निशांत ने अपनी इस उपलब्धि पर इतराना प्रारंभ ही किया था कि अंकुल गंभीर बीमारी की चपेट में। दो वर्षों तक बिस्तर पर पड़ा रहा...दर्द– कराह से तड़पता।

सुबह–शाम निशांत प्रशिक्षार्थियों को पूरे मनोयोग से सिखाता, लेकिन शहर के बाहर जाने का क्रम छूटता गया। उधर अंकुल के हाथ से जीवन की डोर छूटती जा रही थी, तमाम इलाज, एहतियात के बावजूद। अंकुल की बीमारी बढ़ती जा रही थी। ठीक होने के आसार नहीं।

''कहाँ–कहाँ लेकर नहीं गया। अपोलो, वैल्लोर, एम्स, जसलोक सब अस्पतालों में। पर...।''

दोस्तों से बताते हुए आगे के वाक्य गुपचुप–सी सिसकियों में ढल जाते। उसमें घुली कराह ऊपरी सतह पर नजर नहीं आती, उससे क्या! शुभ्रा के आँसू भरे नयन ताड़ लेते।

भारत रत्न बिस्मिल्ला खाँ ने कहा था–एक बारी, जब शिष्या ने उनकी फटी लुंगी की ओर ध्यान दिलाया था।

''मालिक फटा सुर न बख़्शे। बेटी! लुंगिया का क्या है, फटी है, सिल जाएगी। सुर नहीं फटने चाहिए।''

सच्चे सूर साधक के सुर कभी नहीं बिखरे। लेकिन इधर निशांत पाता, उसकी शहनाई के सुर बिखर रहे हैं। जीवन के भी।

''पापा! मेरी शहनाई वहाँ से ला दें।''

''क्या करोगे?''

''बजाऊँगा।''

''तुम बजा सकोगे? नहीं....!''

''मैं बजाऊँगा। ला दें प्लीज!''

निशांत की हिम्मत नहीं हुई, क्षीण पड़ते उसके कमजोर अंदरूनी अंगों को तकलीफ दे। अशक्त बेटे का मन रखने के लिए शुभ्रा ने शहनाई ला, उसके हाथ में पकड़ा दी। मुस्काया था अंकुल एक क्षीण, दर्दभरी, मरती मुस्कान। उसने शहनाई को होठों से लगा फूंक मारी। पूरा जोर लगाने पर भी जरा आवाज नहीं। वह बार–बार फूंक मारने की कोशिश करने लगा। निशांत ने सर

पर हाथ रख दिया।
''छोड़ दो अकुल!''
अंकुल के बालों के अंदर तक पसीने में भीग गए थे। माथे पर चुहचुहा रहे थे। कनपटियों से बहकर नीचे आ रहे थे। टी शर्ट बोथ।
''तुम जल्द ठीक हो जाओ। फिर हम इकट्ठे पहले की तरह स्टेज पर परफॉर्म करेंगे।''
निशांत के अंदर दो सालों से जमे आँसुओं का ग्लेशियर पिघलने को बेताब। कठिनाई से रोके रखा। शुभ्रा दूसरी ओर ताके जा रही थी। उसकी आँखों की कोर ने बगावत कर दी थी। अंकुल ने आँखें बंद कर ली और शहनाई को होठों से लगाए हुए उसकी बंद आँखें सदा के लिए मुँदी रह गई।
मणिकर्णिका घाट पर चिता की ओर एकटक ताकता निशांत शहनाई थामे–थामे बेहोश हो गया था। सबको जुगत से जल्द ही होश में आ गया। तुरंत उसने निर्णय से लिया।
''नहीं, मैं इसे उसकी अंतिम निशानी को चिता के हवाले नहीं कर सकता।''
लोग कहते रह गए वह नहीं माना। मान नहीं सका।

———————————————————

अब नहीं गूंजता शहनाई का स्वर न ही घर में, न संगीत कला केन्द्र में न ही देश–विदेश के मंचों पर। आजकल संगीत कला केन्द्र पर एक बोर्ड लटकता रहता है–यहाँ के सूर खो गए।
हाँ, निशांत घाट पर नित्य देखा जा सकता है। हाथ में एक शहनाई थामे इधर से उधर भटकता हुआ उसका जीवन रोड बिना शहनाई सी हो गई है। नरकट (रीड) के बिना शहनाई कैसे बन सकती है?अंकुल बिना ...?
वह घाट पर शून्य में कुछ खोजता हुआ बैठा रह जाता। जिंदगी के सुर सम पर आते ही नहीं। बिखर गए थे।
''देखो, वही है उस्ताद निशांत''–लोग इशारा कर एक–दूसरे को बताते।
''कौन?कहाँ?''
''वही, जिसके हाथ में एक शहनाई है। पर अब वे नहीं बजाते।''
उन्हें सुर सम्राट जगजीत सिंह को सामने रखना चाहिए। बेटे की मौत के बाद भी जगजीत सिंह ने गाना नहीं छोड़ा।''
''जब वे गाते–'चिट्ठी ना कोई संदेश, ना जाने कौन सा देश, कहाँ तुम चले गए दिल निकालकर रख लेते। पर उन्होंने दर्द को संगीत में डुबो दिया। और भी गहरी हो गई उनकी आवाज।
''हाँ जी, जीवन ऐसे ही खत्म नहीं होता। करनी भी नहीं चाहिए। निशांत जी को भी.....''
जाननेवाले कह ही देते। धीरे–धीरे निशांत अन्य बातों से भी बेजार होता जा रहा था।
''अंकुल की साँसों की डोर मेरी जिद के कारण ही टूट गई।''''क्या बोलते है! यह अनहोनी थी..होनी थी–शुभ्रा ज्यादा मजबूत।
''अकुल लंग्स की बीमारी से मरा। कहीं–न–कहीं, मैं ही दोषी। जबरन ले जाता रहा उसे। इधर वह बजाना नहीं चाहता था, तो बहाना समझता रहा...।''
आगे निशांत बोल नहीं पाता। गला अवरुद्ध हो जाता उसका। शुभ्रा तमाम कठोरता के बाद भी अपने को रोक नहीं पाती। दोनों शहनाई को सहलाने लगते।
''इसमें उसकी जान बसती थी, लेकिन लास्ट में.. हम पहले क्यों नहीं समझ सके?''
अंकुल का रूम पूजा गृह। एक–एक चीजों को सजाकर रख दिया गया। देश–विदेश से मिले पुरस्कार, सर्टिफिकेट, मोमेंटो को काँच के कैबिनेट में सजा दिया गया। वहाँ एक ओर दीवान पर मसनद के पास उसकी बड़ी सी तस्वीर! सामने एक स्टूल। स्टूल पर बड़ा–सा पीतल का दीया। दोनों नित्य तस्वीर के सामने दीपदान करना नहीं भूलते।
देखते–देखते पक्षियों की परवाज वाले समय ने छः वर्ष निकाल दिए। उस्ताद निशांत की शहनाई कहाँ पड़ी है, खुद उसे याद तक नहीं। परन्तु घाट पर आना एक दिन भी नहीं भूला वह। ना ही अंकुल की शहनाई लाना।
आज भी वहाँ वैसे ही घूम रहा है हताश–निराश। थोड़ी देर में बैठ गया एक सीढ़ी पर। उसकी आँखों में एक चिता आज भी जल रही है। सामने कई।
आज के दिन। हाँ, आज के दिन ही अंकुल छोड़ गया था। जिद कर साथ आई शुभ्रा भी सोपान के एक किनारे खड़ी है। गंगा के जल पर शाम के रक्ताभ सूर्य का बिम्ब उतर आया। क्षितिज रंगीन है। उन दोनों का ध्यान उधर नहीं। उनकी आँखों में आग की लपटों की ललाई छाई है। शाम ढल रही है। उनके अंदर भी शाम गहरा रही है। अब वे लौटने को उद्यत।
दोनों चुपचाप घर के सन्नाटे की ओर बढ़े।
अचानक निशांत चौंक उठा।
''पीं ऽ ऽ ईं....पीं ऽ ऽ ईं!''
''यह आवाज...यह आवाज?शुभ्रा!तुमने सुनी?
''हाँ, सुनी। पर कितनी बेसुरी है।''
''कौन बजा रहा है?चलो, देखें।''
वे आवाज की दिशा में बढ़े। हालाँकि सुर दिशाहीन थी। आगे एक दुकान के बाहरी पटरे पर बैठा लगभग १०–११ साल का किशोर शहनाई में उलझा था और बेतरह उलझे थे उसके सुर। निशांत ने तेजी से आगे बढ़ उसकी शहनाई छीन ली।
''इस कदर बेसुरा!कहाँ, किससे सीखा?''
''हूँ....आँ....''
किशोर भयभीत!किशोर भौंचक!
वह डाँटने को हुआ, पर पिघल गया। किशोर में उसे अंकुल दिखा। हू–ब–हू अंकुल। बस इसके वस्त्र मैले, फटे, गंदगी से काले। चेहरा सिकुड़ा सहमा। पैरों में चप्पल नहीं। किशोर के सर पर दाहिनी हथेली रख निशांत कह उठा–
''इसे सँवारने की जरूरत है, शुभ्रा!
शुभ्रा एकटक किशोर को देखे जा रही थी। उसके गोरे चिट्टे अंकुल से जरा भी मेल नहीं। न ही निशांत से कोई साम्य।
''खाँ साहब पूरी जिन्दगी सच्चा सूर माँगते रहे। उस उम्र में उतना नाम कमाने के बाद भी सच्चे सूर के लिए अल्लाह के सजदे में झुकते रहे। वयोवृद्ध होने के बावजूद सुर के बचे रहने की कामना करते रहे। उनका अनुयायी होकर मैं। मैं कच्चे सुर को नहीं झेल सकता। मैं इसे सिखाऊँगा।''
शुभ्रा अपलक निशांत की बात सुनती रही। सालों बाद ''हूँ!...हाँ! नहीं से बाहर आया था निशांत। सम पर।
निशांत ने किशोर का हाथ पकड़कर खड़ा कर दिया। थोड़ी देर तक निहारता रहा–''तुम सीखते हो?''
''नहीं सीखता।''
''सीखोगे?मैं सिखाऊँगा।''
''हाँ, सीखूँगा।''
किशोर के अंदर गहरी उत्सुकता और प्रसन्नता की लहर उठी। ''नाम क्या है बेटे?''
''जी, परकास।''
''ओ ऽ ऽ...प्रकाश।''
''कहाँ है तुम्हारे माता–पिता?मैं मिलना चाहता हूँ।''
''वहाँ...उधर, अभी आ जाएँगे।''
उसने ऊँगली से एक ओर इशारा किया। उसके स्वर से खुशी की झलक पड़

रही थी। सिकुड़ा, ठंडा चेहरा स्नेह की उष्मा पाकर गर्म हो फैलने लगा। निशांत के होठों पर भी हलकी से थोड़ी सी ज्यादा मुस्कुराहट आ गई।

दूसरे दिन से ही प्रकाश का प्रशिक्षण घर पर शुरू। निशांत का जीवन फिर से लय–ताल में डूबने लगा। जहीन दिमाग प्रकाश तेजी से सीखने लगा। निशांत अक्सर अपने भीतर उतरता। वहाँ उसे अंकुल का सान्निध्य मिलता। देर तक अंकुल उसके साथ रहता। अपनी तमाम खूबियों के साथ। शहनाई की मिठास में डूबा हुआ।

''इतनी ही तेजी से सीखता है यह।''

निशांत संतुष्ट हो, शुभ्रा से कहता।

शहनाई की रीड से सरगम बहने लगी फिर। सातों सुर फिर निकल पड़े। निशांत की दुनिया सुरीली होने लगी फिर। प्रकाश भी शहनाई की मीठी आवाज के जादू में उब–डूब करने लगा। बेटे के शहनाई वादन एवं प्रकाश के शहनाई की धुन के बीच का फासला घटने लगा। सच्ची लगन, कड़ी मेहनत और रियाज रंग दिखलाने लगा। पूत के पाँव पालनेवाली बात सच हो रही थी। अब आहिस्ता–आहिस्ता शांत होने लगा था निशांत। उसकी नस–नाड़ियों में घुले दर्द की चीखें शांत होने लगी थीं। दिल–दिमाग पर पड़ी धूल छँटने लगी थी।

कुछ महीनों में संगीत कला केन्द्र का बोर्ड पुनः चमकने लगा। बोर्ड के साथ किनारे पड़ी उसकी सबसे कीमती शहनाई भी धूल झाड़कर उठ खड़ी हुई। उसे वह अंकुल के साथ जुगलबंदी

के समय बजाया करता था, जिसने विदेशों में भी अप्रतिम प्रतिष्ठा दिलाई थी। रात के नीरव शांति में भी घुलने लगा था शहनाई का सुर। विश्वनाथ मंदिर या पंचगंगा घाट स्थित बाला जी मंदिर के बरामदे पर अक्सर ही चार पैर बढ़ते नजर आते। कोने–कतरे तक से बिस्मिल्ला खाँ साहब की शहनाई की मीठी तान पुनः निशांत के दिल में उतरने लगी थी। रागों की जुगलबंदी जगाने की पुरजोर कोशिश जारी थी। जिंदगी सम पर आ रही थी। निशांत जीने लगा था अब।

परिचर्चा

वीणा एवं साहित्यिक पत्रिकाएँ

अरविंद ओझा
प्रचार मंत्री, श्री. भा. हि. सा. स. इंदौर
मो. 9425056433

शताब्दी की ओर अग्रसर वीणा पत्रिका हिंदी की धरोहर है स्वतंत्रता आंदोलन, हिन्दी साहित्यिक पत्रकारिता और वीणा के योगदान पर सार्थक संदेश के साथ संपन्न हुई गोष्ठी उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ एवं राष्ट्रीय हिन्दी मासिक पत्रिका 'वीणा' श्री मध्यभारत हिन्दी साहित्य समिति इन्दौर के संयुक्त तत्त्वावधान में 17 दिसम्बर, 2022 को समिति के शिवाजी भवन सभागार में एक दिवसीय संगोष्ठी सार्थक संदेशों के साथ सम्पन्न हुई।

प्रातः प्रथम उद्घाटन सत्र में श्री आर.पी. सिंह वरिष्ठ भा.प्र.सेवा, निदेशक उ.प्र. हिन्दी संस्थान लखनऊ ने अपने अध्यक्षीय उद्बोधन में कहा कि यहाँ आकर मुझे आनन्द की अनुभूति हुई, ऐसी संस्थाओं को साहित्यिक धरोहर के रूप में मजबूत किया जाना चाहिए। श्री सिंह ने कहा कि भविष्य की क्रान्ति का समाधान पत्रकार और साहित्यकार ही निकालेंगे। वरिष्ठ साहित्यकार श्री सूर्यकांत नागर ने वीणा पत्रिका के संदर्भ में अमृतलाल नागर, माखनलाल चतुर्वेदी, श्री नारायण चतुर्वेदी भैया जी एवं मैथिलीशरण गुप्त को याद किया। डॉ. राजीव शर्मा ने हिन्दी पत्रकारिता के आरम्भ से अब तक के प्रसंगों का सारांश प्रस्तुत किया एवं दिनकर तथा नेहरु जी के प्रसंग को सुनाया। आरम्भ में अपने स्वागत उद्बोधन में वीणा पत्रिका के संपादक श्री राकेश शर्मा ने वीणा के पूर्व संपादकों एवं संस्था के संस्थापक मनीषियों को सादर स्मरण करते हुए इस गोष्ठी के आयोजन पर प्रकाश डाला। उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान की प्रधान संपादक डॉ. अमिता दुबे ने कहा कि इन दोनों संस्थाओं का उद्देश्य एक ही है, हिन्दी, भाषा, साहित्य का सर्वधर्म समाज व देश के निर्माण में साहित्यकार और उनका साहित्य महत्त्वपूर्ण होता है। कार्यक्रम का संचालन कर रहे हरेराम वाजपेयी ने समिति का संक्षिप्त इतिहास बताते हुए वीणा के संदर्भ में इसी वर्ष आयोजित 2 बड़े कार्यक्रमों पर प्रकाश डाला। अंत में समिति के प्रधानमंत्री प्रो. सूर्यप्रकाश चतुर्वेदी ने आभार व्यक्त करते हुए श्री अटलबिहारी वाजपेयी, इंदौर में गांधीजी व बच्चनजी के प्रसंग सुनाए। अतिथियों का स्वागत प्रधानमंत्री के अलावा प्रचारमंत्री अरविंद ओझा, डॉ. पद्मा सिंह व अर्चना शर्मा ने किया।

संगोष्ठी के दूसरे सत्र में, डॉ. दीप्ति गुप्ता ने स्वतंत्रता आंदोलन और हिन्दी साहित्यिक पत्रकारिता पर अपना सारगर्भित पत्र पढ़ा। इस अवसर पर फगवाड़ा से आए डॉ. अनिल पाण्डेय, म.प्र. साहित्य अकादमी के निदेशक डॉ. विकास दुबे, देवी अहिल्या विश्वविद्यालय इंदौर पत्रकारिता विभाग प्रमुख डॉ. सोनाली नरगुन्दे एवं सत्र की अध्यक्षता कर रहे देवास के श्री प्रकाशकान्त ने उद्बोधन किया। सारांश रहा साहित्यिक पत्रकारिता और पत्रकारिता में फर्क होते हुए भी आपसी प्रगाढ़ता और सामंजस्य होता है। सत्र का संचालन श्री प्रभु त्रिवेदी ने किया।

संगोष्ठी के तीसरे सत्र में हिन्दी साहित्यिक पत्रकारिता को वीणा पत्रिका का योगदान विषय पर वैचारिक सत्र हुआ। डॉ. पुष्पेन्द्र दुबे, देवास के वरिष्ठ साहित्यकार जीवनसिंह ठाकुर ने पत्रकारिता व वीणा पर विचार रखे। अमरकंटक से आयी डॉ. मनीषा शर्मा से कहा कि वीणा पत्रिका मेरी गुरु समान रही है और इनके 4 संपादकों से मैंने बहुत लिखना–पढ़ना सीखा। सत्र की अध्यक्षता कर रहे विक्रम विश्वविद्यालय हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ. शैलेन्द्र कुमार शर्मा ने उदण्ड मार्तण्ड से लेकर वर्तमान समय पर विचार व्यक्त किए और कहा कि वीणा हिन्दी साहित्य की धरोधर है, हमारी गौरव है. इसकी तुलना किसी से नहीं हो सकती। वीणा ने संघर्ष किए, हिन्दी के उद्भट विद्वान दिए, साहित्य की धारा को विकट परिस्थितियों में भी प्रवाहमान रखा। 1927 से निकलनेवाली 'वीणा' 4 वर्षों बाद शताब्दी मनानेवाली हिन्दी की पहली पत्रिका होगी। इस सत्र का सफल संचालन पद्मा राजेन्द्र ने किया।

इस एक दिवसीय साहित्यिक वैचारिक गोष्ठी में समिति परिवार, वामा साहित्य मंच, हिन्दी परिवार इंदौर, महाविद्यालयों के छात्र और छात्राओं ने सोल्लास सहभागिता की, उन्हें प्रमाण पत्र भी दिए गए। इस अवसर पर वीणा के संपादक श्री राकेश शर्मा का अभिनन्दन किया गया। अंत में लखनऊ की डॉ. अमिता दुबे एवं समिति की ओर से श्री प्रदीप नवीन ने आभार व्यक्त किया। कार्यक्रम में श्री संतोष मोहन्ती, सदाशिव कौतुक, अनिल

भोजे, आलोक खरे, गिरेन्द्रसिंह भदौरिया, रामचन्द्र अवस्थी, अंजना चक्रपाणि मिश्र, वाणी जोशी, प्रतापसिंह सोढ़ी, ओम ठाकुर, घनश्याम यादव, त्रिपुरारीलाल शर्मा, मुकेश इन्दौरी, पुनीत चतुर्वेदी, छोटेलाल भारती, कमलेश पाण्डे, राजेश शर्मा, संदीप पालीवाल, जुगुलकिशोर बैरागी, हेमेन्द्र मोदी, सरला गलांडे, विजय चौहान, अनिल कटारे आदि ने सहभागिता की।

लघुकथाएँ

दरकते रिश्ते

महेश कुमार केशरी
मेघदूत मार्केट फुसरो
बोकारो (झारखंड)

अरे .. रे.. रे...! कुर्सी वहाँ मत लगाईये , मँगेश भाई , दीवार से सटाकर, दीवार का पेंट खराब हो जायेगा स इंपोर्टेड पेंट लगाया है , बेटे ने दीवार पर स जरा खिड़की से साईड होकर बैठिये, और , सुजाता जी ने मँगेश बाबू को कुर्सी किनारे करके बैठने को कहा, मँगेश भाई को ऐसा लगा मानों किसी ने उन पर घड़ों पानी उझल दिया हो स लगा किसी ने उन्हें सरेराह बेइज्जत कर दिया हो ! मँगेश बाबू ने कमरे पर एक नजर फिराई, आज हर एक चीज आज नवीण बाबू के घर में नई थी, कीमती सोफा, कीमती फर्नीचर, चमचमाती हुई दीवारें, मेहमानों के स्वागत में बिछाया गया मँहगा कार्पेट से ये सारी चीजें नवीण बाबू के नये घर में जैसे चार चाँद लगा रहें थें स नवीण बाबू घर आये मेहमानों के स्वागत में पलक – पाँवड़े बिछाये हुए थ, मँगेश बाबू तो खैर , घर के आदमी थें,

पहले सुजाता जी और नवीण बाबू का घर इतना शानदार नहीं था, एक साधारण सा घर था, मिट्टी का खपरैल वाला घर, मिट्टी का घर होने की वजह से घर ठंडा भी बहुत रहता था, और मँगेश बाबू अक्सर उनके घर आते –जाते रहते थ, लेकिन , नवीण बाबू का लड़का अब इंजीनियर हो गया था और , उसकी कमाई से ही नवीण बाबू ने ये शानदार घर बनाया था, लेकिन , इधर घर को लेकर एक ठसक सी आ गई थी, सुजाता जी और नवीण बाबू में, दिन भर वो घर की बाबत ही सोचते, घर पर एक खरोंच भी जैसे उनकी आत्मा को लहुलूहान कर देती, वो , किसी बच्चे की तरह घर को प्रेम कर रहें थें, लेकिन जब हम दुनियावी चीजों से बहुत प्रेम करने लगते हैं और अपने आत्मिक संबंधों को अनदेखा करने लगते हैं, तो हमारे मानवीय रिश्ते कब टूट जाते हैं, हमें पता भी नहीं चलता, इस घर से मँगेश भाई को बहुत प्रेम था, अपने दोस्त नवीण बाबू और सुजाता भाभी के भी वे चहेते थें, जब नवीण बाबू का घर खपरैल का था और बहुत छोटा भी था, तो इन लोगों को मँगेश भाई से प्रेम भी बहुत था, लेकिन, यहाँ अब भौतिकवादी युग की इस अँधी दौड़ में रिश्त अब बे– मानी से लगने लगे थें, यही सुजाता भाभी थीं, जो, घर में कहीं भी बैठ जाआ, कहीं भी लेट जाओ, कुछ ना कहतीं थीं, दोपहर को मँगेश भाई पहुँचते तो चाय के कई –कई दौर चलत, जिस दिन वे लोग पत्ते खेलते, रात में मँगेश भाई वहीं ठहर जाते, मँगेश भाई को अब ये समझते देर नहीं लगी, कि अब यहाँ रूकना अपनी इज्जत को दाँव पर लगाना है। वे उठे और दरवाजे की तरफ मुड़े, तभी नवीण बाबू ने टोका – 'अरे भाई कहाँ चल दिये ? अभी –अभी तो आये हा, खाना खाकर ही जाना,' नहीं भाई अभी – अभी घर से बहुत जरूरी फोन आया है , जाना होगा मुझे बहुत जरूरी है लेकिन , तुमसे वादा करता हूँ , आधे घंटे में लौट जाऊँगा, 'तब ठीक है, मैं तुम्हारा इंतजार करूँगा, जल्दी आना, 'मँगेश बाबू ने एक झूठ बोला था, लेकिन, पता नहीं उन्हें ऐसा क्यों लग रहा था , कि ये झूठ उन्होनें नवीण बाबू से नहीं जैसे अपने आप से बोला हो !

प्रेरणास्तोत्र

बाबू के लिये व्यापार ही सबकुछ था, बाबू व्यापार में हमेशा फायदे नुकासन और जोड़–तोड़ की सोचता, हमेशा उसकी एक ही चाहत होती कि वो थोड़े और पैसे जोड़ ले, इस तरह बाबू ने सालों मेहनत करके ढ़ेर सारा पैसा कमा लिया था, अब बाबू एक खुशहाल जीवण जी रहा था, तन पर अच्छे कपड़े आ गये थ, देह भी मुटाने लगी थी, लेकिन पैसे कमाने की उसकी सनक कहीं से भी कम नहीं होती थी, वो , जितना रूपया कमाता, उसे लगता और पैसे कमाये, वो पैसे कमाता जाता था, वो धनवान पर धनवान होता जा रहा था, ऐशो – आराम के लगभग सारे संसाधन उसने जुगाड़ लिये थें, लेकिन, उसे लगता कहीं कुछ कमी है, बाबू मेले में खिलौने बेचता था, एक दिन वो ऐसे ही मेले में खिलौने बेच रहा था, कि एक साधारण सा दिखने वाला आदिवासी युवक अपनी पत्नी और बच्ची को लेकर उसकी दुकान पर आया, ये परिवार दिखने में बेहद ही साधारण सा था, उस आदिवासी की एक बेटी थी, वो बार – बार एक मँहगी गुड़िया अपनी माँ से लेने के लिये कह रही थी, लेकिन, चूँकि वो देहाती आदिवासी युवक काफी गरीब था, जिसकी माली हालत बेहद खराब थी, ऐसा उनके हावभाव और पहनावे को देखकर लग रहा था, लड़की की माँ का मन गुडिया खरीदने का नहीं था, लेकिन जब बच्ची नहीं मानी और जिद करने लगी, तो आखिर कार आदिवासी युवक ने वो कीमती गुड़िया खरीदकर अपनी बेटी को दे दिया, बाबू इस घटना को बड़े ही गौर से देख रहा था, उसने देहाती आदिवासी युवक से पूछा –'बाबू आपने इतनी मँहगी गुड़िया अपनी बेटी को खरीदकर दे दिया, जबकि आपकी पत्नी उसे बार – बार खरीदने को ना कह रही थी, ऐसा क्यों?'

आदिवासी युवक, बाबू की ओर देखकर मुस्कुराते हुए बोला –'भाई जी मैं बहुत काम– धाम और खेती किसानी करने वाला आदमी हूँ, साल भर में बहुत कम दिन ही ऐसा होता है कि मैं अपने परिवार को समय दे पाऊँ, आज मेला देखने आया हूँ और मेरी बच्ची ने गुड़िया की जिद की तो मैंने खरीद दी, आखिर , ये पैसा –कौड़ी किस दिन के लिये होता ह, जब इसे हम अपने परिवार और बच्चों पर खर्च ही ना कर सकें, बाबूजी इस जिंदगी का क्या भरोसा है, आज है, कल नहीं रहेगी, इसलिये मुझे जब भी मौका मिलता है, अपने बच्चों के साथ घूमने निकल जाता हूँ, 'आज बाबू को एक देहाती आदिवासी लड़का जीवन की एक अनमोल और बेशकीमती सीख देकर चला गया था, बाबू ने सामान समेटा और घर की तरफ चल पड़ा, अपने परिवार को मेला घूमाने !

आलेख

हिंदी दलित नाटक और रंगमंच

प्रो. डॉ. संजय राठौड़
हिंदी विभाग, औरंगाबाद, महाराष्ट्र
चलभाष 9421686342

हिंदी दलित साहित्य की अवधारणा में नाटक या रंगमंच को देखें तो भारतीय समाज में जातियों के परस्पर टकराव झेलती जातियों का संघर्ष नजर आता है। यहाँ दर्द भी है और अधिकार की माँग भी। इसी चाह, आंदोलन और वैमनस्य राधा आक्रोश के गर्भ से दलित नाटक तथा रंगमंच का निर्माण हुआ। दलित नाटककार एवं रंगकर्मियों ने अपनी अस्मिता तथा संस्कृति को पहचाना और हिंदी हिंदू रंगमंच के समान अपनी मौजूदगी दर्ज की। जब हम दलित नाटक या दलित रंगमंच की ओर देखते हैं, तो कुछ बातें हमारे सम्मुख उपस्थित होती हैं। अत्याचार सहते हमारी जातीय बंधु सवर्ण पुरुषों द्वारा बलात्कार का शिकार होती हमारी माँ, बहने, बेटियाँ तथा देवदासी प्रथा के अंतर्गत हिंदू देवताओं के प्रतिनिधियों के हवस को शिकार धर्मभीरू महिलाएँ, मंदिरों में अपनी इज्जत बचाने के लिए चिल्लाती तथा अंधविश्वास की शिकार महिलाएँ, यह सब जो होता है, वह भारत में स्थापित वर्णवादी व्यवस्था के कारण। सवर्णवादी व्यवस्था के उत्पीड़न की प्रतिक्रिया स्वरूप दलित साहित्य की एक मजबूत विधा के रूप में नाटक की उत्पत्ति हुई। सबसे पहले दलित समाज में इस व्यवस्था के प्रति आक्रोश निर्माण हुआ और इसी आक्रोश ने आंदोलन का रूप ले लिया। इसी आंदोलन के गर्भ से नाटक का जन्म हुआ। स्वयं डॉ. बाबा साहेब आंबेडकर ने कहा था–''मेरे दस भाषणों से
कई अधिक एक नाटक की प्रस्तुति लोगों पर असर डालती है।''1 मानवीय मूल्यों की स्थापना करना दलित नाटक तथा रंगमंच का मुख्य उद्देश्य रहा है। इसका निर्माता संवेदनशील होने के कारण अपनी वेदना, अपने ऊपर होनेवाले अत्याचार, अपने अधिकारों का होता हनन, छटपटाहट को नाटक द्वारा व्यक्त कर समाज में चेतना निर्माण करने का कार्य करता है।

ऊपर हमने कहा है कि दलित नाटक की उत्पत्ति बहुत मजबूत रूप से हुई है। किंतु इसके बावजूद भी यह विद्या अचर्चित दिखाई देती है। इसके कई कारण हमें दिखाई देते हैं। यह नाटक जब–जब कहीं खेले जाते हैं या इसका मंचन होता है, तब इसका काफी विरोध होता रहा है। व्यावसायिक नाटकों से इसका संघर्ष, रंगमंच की प्रतिकूलता, लेखकों की आर्थिक उदारता, प्रकाशक वर्ग द्वारा इनकी होती उपेक्षा आदि अनेक कारण इसके अचर्चा के रहे हैं।

मूलतः नाटक यह विधा दलितों की ही देन है। शुरू से ही दलित समाज उत्पादक और श्रमजीवी रहा है। ये लोग दिन भर मजदूरी करके जब रात को वापस आते हैं, तो मनोरंजन के लिए अनेक कलाएँ प्रस्तुत करते थे। बीमारियों से मुक्ति, अकाल, अनावृष्टि से बचने के लिए यह लोग मुखौटा जानवरों की खाल लगाकर नृत्य करते थे। नाटक का प्राथमिक रूप यही रहा है। मोहनदास नैमिशराय ने दलित नाट्य परंपरा को लोकनाट्य परंपरा से जोड़ते हुए लिखा है–''मैं अगर कहूँ कि हर रंगकर्मी के भीतर उसकी स्मृतियों का दबाव होता है, तो गलत नहीं होगा। थिएटर और लेखन के प्रति मेरे अनुराग का कारण भी वही रहा है। उसे विकसित किया सांग, ढोला तथा नौटंकी ने हमारे पड़ोसी
लगभग अल्हा उदल की कथा सुनते थे। बाद में मुझे पता चला, वे हमारे पुरखे थे। उनकी बहादुरी के किस्से हमें रोमांचित करते थे। बिहार में 'राजा सल्हेस' का किस्सा लगभग इसी तरह का है। उस किस्से में अस्मिता का भाव है। साथ हमलावर को जवाब देने की प्रवृत्ति भी दलितों के लिए नाटक से जुड़ना व्यक्तिगत रुचि की बात कम और सामूहिक अधिक है।''[2]

मनोरंजन की जो तमाम विधाएँ हैं, वह दलितों से ही विकसित होती नजर आती है। जैसे नट, नृत्य, गायन इत्यादि गाँव में नट–नटी के करतब दिखाने के लिए भाड़े–भड़ौती करना, विदूषक, मसखरा, बहरूपिया बनना, किसी के गुण–अवगुणों का गा–गाकर प्रचार करना दलित लोग ही करते थे। इसी कलाओं को आगे चलकर नाटक का स्वरूप प्राप्त हुआ। कोई भी लोककला क्यों न हो, जैसे–जलसा, लावणी या नाटक उसमें काम करनेवाले ज्यादातर लोग दलित समाज के ही होते हैं। इससे पता चलता है कि नाटक दलितों के द्वारा ही खेला जाता है।

वस्तुतः नाटकों का विवेचन दो रूपों में हम कर सकते हैं। वर्तमान में नाटक के दो रूप हमें दिखाई देते हैं। एक वह नाटक, जो रंगमंच के अधीन है। जिसका निर्माण ही रंगमंच को आधार बनाकर किया जाता है, जिसे आज हम मूल प्रवाह का नाटक कहते हैं। जिसका उद्देश्य केवल मनोरंजन तथा अर्थ प्राप्ति ही होता है। लेकिन दलित नाटक इससे अलग है। यह दलितों द्वारा ही लिखा जाता है। यह अलग बात है कि आज गैर दलित लेखक भी दलितों के ऊपर लिख रहे हैं। लेकिन यह लेखन सहानुभूतिपरक होता है, परंतु आज दलितों को सहानुभूति नहीं चाहिए; क्योंकि सहानुभूति से कोई प्रश्न हल नहीं हो सकता है।
एक तरफ वह नाटक है जिसके पास पूरी तरह से रंगमंच होता है और एक और वह नाटक है, जिसके पास कोई विशेष रंगमंच ही नहीं है। इसे हम दलित नाटक कहते हैं। इसके पास न कोई रंगमंच है, न रंगमंच की कोई साधन सामग्री। सही बात तो यह है
कि दलित नाटकों को इन साधनों की कोई जरूरत ही नहीं होती। इसकी थीम ही इतनी सशक्त होती है कि बिना किसी साधन सामग्री तथा रंगमंच के बिना ही यह दर्शकों पर अपना प्रभाव छोड़ जाती है। यह नाटक जिसने भोगा है, उसके द्वारा लिखने के कारण उसमें अभिव्यक्ति सामर्थ्य इतना होता है कि उसे संगीत, प्रकाश, वस्त्रसज्जा आदि साधनों की कोई जरूरत नहीं होती।
इसीलिए इसे मुक्त नाटक भी कहा जाता है।

मूलतः हिंदी में दलित रंगमंच का जो प्रारूप है, वह लोकरंगमंच है। लोकमंच पर काम करनेवाले लोग दलित ही रहे हैं। उसमें काम करनेवाला वर्ग दलित ही रहा है। जो लोककलाएँ थीं, उन्होंने ही आगे चलकर नाटक का रूप धारण किया। इस संदर्भ में दशरथ ओझा का मानना है कि ''हिंदी नाटक की परंपरा का मूल स्रोत यह जन–नाटक ही है, जो स्वांग आदि नाम से अपने प्राचीन रूप से अब तक विद्यमान है। क्रमशः इन जन– नाटकों की एक शाखा ने विकसित होकर साहित्यिक रूप धारण किया।''[3]

अब दलित साहित्य के अंतर्गत नाटक विधा प्रमुखता के साथ हमारे सामने आती है। डॉ. बाबा साहेब अंबेडकर जी की प्रेरणा से आज दलित नाटक एक दलित रंगभूमि आगे बढ़ रही है। इतिहास में घटित अनेक प्रसंग एवं घटनाओं ने दलित नाटककारों को लिखने के लिए प्रेरित किया है। इतिहास में ऐसे कई पात्र हैं, जिनके मानवी हक को नकार कर उन्हें केवल जैविक रूप में देखा गया है। ऐसे पात्रों की वकालत करने का काम इस रंगभूमि ने किया है। वरिष्ठ आत्मकथाकार कोशल्या बैसंत्री के अनुसार, ''निश्चित ही नकारे हुए मानवीय हक को प्राप्त करने के लिए दलित रंगभूमि ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।''[4]

20वीं सदी में सबसे पहले स्वामी अछूतानंद ने हिंदी दलित नाट्य लेखन को लेकर पहल की। इनके चार नाटक दृष्टिगोचर होते हैं। इनका पहला नाटक 'रामराज्य न्याय' में राम के उपेक्षित तथा जुल्म का शिकार पात्र शंबूक की हत्या का चित्रण है। उनके अन्य नाटक–'मायानन्द बलिदान', 'पारख पद', 'बली छलन'–यह हिंदू शास्त्रों और वाङ्मय के ऐसे पात्रों पर लिखे गए

हैं, जिनके उत्पीड़न को सवर्ण साहित्यकारों और समाज ने त्यागा या बलिदान की संज्ञा देकर सवर्णों द्वारा दलितों के शोषण तथा सवर्ण पात्रों के छल को महिमामंडित करने का यंत्र रचा था। अछूतानंद ने अपने नाटकों में ऐसे मर्म को छूनेवाले संवादों को रखा है, जिससे दर्शक तथा पाठक को राम के प्रति अपनी मानसिकता बदलने को प्रेरित करते हैं और राम के वर्चस्ववाद को प्रस्तुत करते हैं।

हिंदी दलित नाटक की इसी परंपरा में महत्त्वपूर्ण रूप से शिवप्रसन्न दास का 'हरिजन', माता प्रसाद का 'अछूत का बेटा', 'धर्म के नाम पर धोखा', 'प्रतिशोध', मोहनदास नैमिशराय का 'अदालतनामा', 'हैलो कामरेड', डॉ. एन. सिंह का 'कठौती में गंगा', एन. आर. सागर का 'मार्ग का काँटा', 'अन्तिम अवरोध' सुनील कुमार सुमन द्वारा लिखित 'एक बार फिर', एल.एम. धर्मरत कृत 'अछूत का प्यार', कर्मशील भारती द्वारा लिखित 'मान सम्मान', 'फाँसी', रूपनारायण सोनकर द्वारा लिखित 'विषधर', 'एक दलित डिप्टी कलेक्टर', 'महानायक', रत्नकुमार सांभरिया द्वारा लिखित 'बीमा', सुशीला टकभौरे का 'नंगा सत्य' आदि प्रमुख नाटक हैं।

दलित नाटक और रंगमंच की दृष्टि से कर्मशील भारती और धर्मवीर ने दिल्ली में दलित न्याय मंच स्थापित किया था, जिसके द्वारा अनेक दलित नाटक का मंचन हुआ। कर्मशील भारती के अनेक नाटकों का यहाँ सफलतापूर्वक मंचन भी हुआ है। जिसमें 'मेरा वजूद', 'फाँसी', 'संवादों के पीछे' आदि प्रमुखता से देखे जा सकते हैं। उन्होंने 10 अक्टूबर, 1989 को विजयादशमी के दिन मुनरिका गाँव में 'मेरा वजूद' नाटक का मंचन किया था। उन्होंने 'मान–सम्मान', 'श्रेष्ठ कौन', 'झूठा अहंकार', 'आजादी किसकी' आदि नाटकों का भी मंचन किया है। साथ ही वरिष्ठ दलित कथाकार ओमप्रकाश वाल्मीकि द्वारा लिखित 'दो चेहरे' नाटक भी कई नाट्य संस्थाओं द्वारा मंचित हुआ है।

60 के दशक में प्रसिद्ध रंगकर्मी रमेश मेहता ने एक नाटक लिखा था, जिसका नाम था–'रोटी और बेटी।' नाटक के माध्यम से उन्होंने जातीय आधार पर लोगों को उद्वेलित और उत्तेजित करती आ रही ज्वलंत समस्या को उजागर किया है। इसी परंपरा में आगे 1977 में मनोहर लाल मानव ने 'चावली' नामक नाटक की निर्मिती की। इसकी मूल थीम दलित समाज के पढ़े–लिखे तबके में मध्यवर्गीय मूल्यों के प्रति रूझान और समाज का झकझोर कर उन्हें शिक्षित समाज के साथ आगे बढ़ने के लिए प्रेरणा देना है। इस नाटक का निर्देशन आनन्द कुमार ने किया था। यह नाटक अनेक सार्वजनिक सभाओं में और दलित बस्तियों में मंचित हुआ था। 1980 में मनोहर लाल और डालचंद के संयुक्त प्रयास से एल.के. रैना के द्वारा 'कबिरा खड़ा बाजार में' विशेष रूप से दलित लोगों के लिए मंचित किया।

जहाँ तक दलित समाज के शौकिया, नाटककारों की बात है, उसमें उत्तर प्रदेश के ही नाटककारों ने कई प्रस्तुतियाँ की। एकलव्य के जीवन पर वर्तमान के संदर्भ को लेकर भीमसेन संतोष द्वारा 'शोषित के नाम संतोष का पैगाम' नाटक लिखा, जो शोषित साहित्य प्रकाशन, दिल्ली की ओर से 1983 में प्रकाशित
हुआ। इस नाटक में उन्होंने दलितों के भीतर की पीड़ा को बाहर लाने का प्रयास किया है। इस प्रकार दलित नाटकों का लेखन और मंचन आज भी होता हुआ दिखाई देता है।

वर्तमान समय में दलित नाटककार सिनेमा और सिरियल के चकाचौंध से प्रभावित तो हुए है, किंतु वह अपने मूल उद्देश्य से दूर नहीं गये। वह आंबेडकरी विचारों से हटे नहीं है। वह सामाजिक न्याय और सामाजिक परिवर्तन के लिए कटिबद्ध दिखाई देते हैं। भले ही आज दलित नाटक एवं दलित रंगभूमि के सामने अनेक समस्याएँ हैं, किन्तु बाबा साहेब अंबेडकर के प्रेरणा से दलित नाटककार, दलित नाटक, दलित रंगभूमि और दलित कलाकार आज आगे बढ़ रहा है।

संदर्भ–

1. मोहनदास महरा, दलित साहित्य अवधारणा में रंगमंच, पृ. 54 2. संपा. मनोहर भंडारी, दलित साहित्य समग्र परिदृश्य, पृ. 149 3. दशरथ ओझा, हिंदी नाटक का उद्भव और विकास, पृ. 53
4. संपा. डॉ. उमाकांत बिरादार, डॉ. विजकुमार रोडे, दलित विमर्श नाटक तथा रंगमंच, पृ. 138

कविता

झूमती शाखों के पत्ते

डॉ.महेन्द्र अग्रवाल
संपादक–नई गजल
सदर बाजार शिवपुरी म.प्र.
मो. 9425766485

झूमती शाखों के पत्ते सरसराने लग गये
आंधियां चलने लगीं बादल डराने लग गये
हादसा–दर–हादसा–दर–हादसा क़िस्मत में है
ज़ख्म मेरे रो न पाये, मुस्कुराने लग गये
घर चलाया किस तरह,किससे छुपा है आज भी
ये ग़नीमत है कि अब बेटे कमाने लग गये
रास्ता हमवार होने का नतीज़ा ये हुआ
पांव बरसों बाद फिर से डगमगाने लग गये
बेवफ़ा सी लड़कियां ये बावफ़ा से छोकरे
कुछ पुराने दिन हमें भी याद आने लग गये
आपकी पायल की रुनझुन में भी दीपक राग है
इन मुड़ेरों के दिये भी जगमगाने लग गये
ख़ुशी कतरा के निकली है तो अनजानी सी लगती है

हमारा दिल भी सहरा सा है वीरानी सी लगती है
इनायत है वो अपना हाथ सर पर फेर देते हैं
बुजुर्गो की यही आदत महरबानी सी लगती है
मैं गीली रेत में लड़ते झगड़ते घर बनाता था
मगर अब याद करता हूं तो नादानी सी लगती है
जो उठते ही सुबह से शाम सबका ध्यान रखती थी
वही मां आजकल सबको परेशानी सी लगती है
चमकती ज़िन्दगी, दुनिया समझती है सितारों सी
उसी को आंख में ठहरे हुए पानी सी लगती है
बड़ी लज्ज़त थी,उसके जिस्म की पहली हरारत में
हरारत है वही पर आज बेगानी सी लगती है
ज़रा सी आस की डोरी ,किसी के हाथ में ठहरी
अपीलें हों गईं ख़ारिज ये निगरानी सी लगती है

कहानी
राजस्थानी

उसकी अपनी दुनिया

पूर्ण शर्मा 'पूरण'
हनुमानगढ़, राजस्थान
मो.9828763953

यह लड़की की दुनिया थी। सिर्फ और सिर्फ लड़की की अपनी। किसी दूसरे का इसमें कोई हिस्सा न था। वैसे लड़की स्वयं किसी और को अपनी इस दुनिया में हिस्सेदार बनाना भी नहीं चाहती थी। जान–बूझकर या किसी भय से, पता नहीं। वैसे पूरी तरह से तो यह भी पता नहीं कि लड़की की इस दुनिया के बारे में कौन–कौन जानता था?क्योंकि लड़की के पास एक नहीं, दो नहीं, तीन–तीन दुनिया थी। एक तो वह जो पीछे की ओर दूर तक दिखाई पड़ती और दूसरी जो सामने ही खुलती, वह कोरे–गोरे टीलों की तलहटी, इन दोनों के बीच सीवान हो जैसे। तलहटी के इस पार गेहूँ–चने और सरसों की हरियाली और तलहटी के उस पार, समझें कुछ–कुछ ऊपर की ओर दूर–दूर तक रेत है। रेत ही रेत। रेत की इस दुनिया का हरियाली दुनिया से कोई सम्बन्ध नहीं, यह बात नहीं। सम्बन्ध तो था, पर रहस्यमय–सा था। तलहटी से इस ओर बढ़ आई हरियाली कभी ऊपर की ओर अपनी सींव को लांघकर नहीं चढ़ी। पर फिर भी इन दोनों दुनियाओं में हेत रहता आपस में। रेत हेत रखती है हर किसी से। हरियाली से और हरियाली पर से आते हवा के झोंके से भी। नटखट और आवारा हवा का झोंका न जाने कैसी–कैसी शरारत करता रहता उसके साथ...पर बेचारी रेत, हेत से भीगती रहती। उलाहना न देती। कभी–कभी तो प्यार में पगा झोंका जब मचल उठता, तो कोरे टीलों की गोराई को छूता दूर तक निकल जाता। उसके गोरे–गोरे बदन पर अपनी अंगुलियों की छाप छोड़े जाता। हवा के झोंके के जाने के बाद... पगली रेत रात होने तक उसकी अंगुलियों की छाप को सहलाती रहती। ऊपर चाँद सिर तक चढ़ आता, तब कहीं उसे होश आता और वह मुस्कुराकर रह जाती। तब
कहीं घड़ी–दो घड़ी आँख लग पाती।

हरियाली उससे हेत रखती, पर इसे जताती नहीं कभी। और फिर जताए भी तो कब?स्वयं का हेत भी तो उससे सँभले नहीं सँभलता। ढुल–ढुल पड़ता चहुँ ओर। बावरे झौंके को छोटी–सी कोई बात हाथ लगी नहीं कि झट से उसके कान में कहने को दौड़ पड़ता। यह बात..वह बात। भाँति–भाँति की बात। लाड़–कोड की बात... हेत की बात। इससे हेत..उससे हेत, सबसे हेत। हेत कोई बाँधे बँधता है?हेत कौन–सा एक के लिए होता है?वह तो न जात देखे, न पाँत, नया देखे, न पुराना.. बस्स! ढुल–ढुल पड़ता है। कभी–कभार हरियाली की ओर भी ढुल आता। उसे अकेली नहीं छोड़ना चाहता और जब कभी हवा के किसी आवारा झौंके का सहारा लेकर ही सही, हरियाली दुनिया में आता रहता। हवा का साथ हो तो वह भूल ही पड़ती कि उसे कितनी देर हो चुकी होती। खैं..खैं... चलती जाती, आगे ही आगे। घर–घर, ढाणी–ढाणी ....खेत–खेत। कोरी–गोरी उसकी देह पर उकेरी छाप अब चारों ओर उड़–उड़ जाती। गेहूँ के रेशमी बालों पर से...चने के ललछौंहे फूलों पर से... जरा और ऊपर, खेत की क्यारी–नालों पर से होते हुए, ऐसे ही ऊँघते–से शीशम और दूर इकलसूंगड़ी कीकर या फिर मिचमिचाती आँखों से देखती खेजड़ी पर से। वहाँ दूर नहर के सहारे–सहारे ईंट–भट्ठे की सुलगती चिमनी से टकराकर आखिरकार हवा के उस झौंके की मजबूत बाहों में झूलती–झुलाती बेचारी थक–थकाने लगती, तो पूरा एक चक्कर लगा चुकने के बाद लौट पाती। लौट तो आती, पर पूरा कब लौट पाती?लौटना चाहने पर भी नहीं। पीछे छूटते कदम बार–बार उसी जगह पर पड़ते रहे, जहाँ से लौटना हो, तो?महीना–दो–महीना..साल–दो– साल.. सदी–दो सदी, क्या पता! हल्की–सी कोई छाप गहरी होते–होते ऐने साफ दिखने लगे। दादी के चेहरे पर गहराई सलवटों की मानिंद ।

दादी का चेहरा ?

हाँ! दादी के चेहरे पर सलवटों को जाने किसी ने अपने हाथों से बनाया हो। कभी–कभार तो दादी जब कुछ सोचते हुए अपने चेहरे को हाथ से पोंछती, तो लड़की को लगता शायद दादी खुद बनाती है अपनी इन सलवटों को। दादी जब ककड़ी छीलती होती या फिर गूदड़ पर पैबंद लगाती होती, तो उसके झुके हुए चेहरे की सलवटें मानों झूल–झूल पड़तीं। लड़की के आश्चर्य की सीमा न रहती। वह अपने हाथों से लटक आयी सलवटों को ऊपर उठा लेना चाहती। उसे डर रहता लटकती सलवटें कहीं एकाएक नीचे बिछी गुदड़ी पर ना बिखर जाएँ। 'दादी...' वह जल्दी से दादी को आगाह कर देना चाहती, पर अचानक जब दादी गुदड़ी को पलट लेती, तो उसका चेहरा खुद–ब–खुद ही ऊपर हो जाता और सलवटें भी अब फिर से अपनी पहले की स्थिति में आ जाती।

कभी–कभार नहीं, लगभग रोज ही ऐसा होता। लड़की को स्कूल जाने से पहले तो फुर्सत न होती, पर स्कूल से लौटते ही एकबारगी वह दादी के पास अवश्य बैठती। साँझ होते नहीं, जरा पहले। वह जल्दी से अपने बस्ते को बरामदे में फेंकती और उसी तेजी से दादी के कमरे की ओर लपकती। पर कमरे में पहुँचते उसके कदम क्षण भर के लिए ठिठक जाते। फिर धीरे–से कमरे में घुसती। कमरे के भीतर आते समय लड़की का सिर उसकी चौखट से टकराता। पर चौखट से नहीं, चौखट से झूलती वंदनवार से टकराता। वंदनवार लड़की के सिर से टकराती। नहीं..नहीं, शायद सिर से नहीं। लड़की अपने सिर के बालों को इस तरह से सजाती कि बाल जरा ऊँचे और कलंगी लिए होते। मतलब उसका सिर नहीं, सिर पर निकली बालों की कलंगी टकराती और वंदनवार से झूलते घंटी की शक्ल के घुंघरू 'टन..न.न.न.न' की आवाज करते बोल पड़ते.. ..'आ गई निम्मा..?'

वह जब भी दादी के कमरे में घुसती घुंघरू अवश्य बोलते...'आ गई निम्मा..।' लड़की को पता तो होता, फिर भी उसे लगता, दादी नहीं, घुंघरू ही बोलते हैं। कई बार उसने दादी से पूछ ही लेना चाहा, पर शब्द उसके मुँह से निकलते इतनी देर में, तो दादी खुद उससे पूछ लेती–'नहर–नहर होकर ही आयी हो या इधर टीले के पास से?' वैसे दादी को पहले से पता होता कि निम्मा मतलब उसकी पोती मतलब लड़की नहर के सहारे–सहारे ही आती है, पर दादी अपने मन की तसल्ली के लिए पूछ लेती..शायद!
लड़की भी तो कम नहीं!
'नहीं जी! आज तो टीले के पास से होकर आयी हूं।' दादी चिंहुककर उसकी ओर देखती।
'आ हा हा..हा..हा।' लड़की अपनी ताली पीटती हुई दादी को चिढ़ाती। दादी मुस्कुराने लगती।

दादी मुस्कुराती, तब उसके चेहरे की सलवटें कुछ–कुछ उथली हो जातीं, नहीं तो पता नहीं कितनी गहरी होंगी।

थोड़ी देर बाद लड़की दादी के पास से उठकर बाहर आ जाती। अब लड़की को अपना होमवर्क करना होता। लड़की रोज सोचती, क्यों इतनी मेहनत करवाते हैं टीचर?स्कूल में सब कुछ तो सुना–पढ़ा देते हैं.. फिर भी?सोचते–सोचते वह जीने पर चढ़ जाती और ऊपर छत की मुंडेर के सहारे

बैठकर होमवर्क करने लगती। लिखते हुए उसका चेहरा दक्षिण की ओर होता... उधर.. हरियाली और रेत भरे टीलों की सीवान की ओर। वह फटाफट अपना होमवर्क पूरा कर लेना चाहती। देर तक चेहरे को कॉपी पर
झुकाए रखती, जैसे दादी गुदड़ी पर झुकाए रखती। पर दादी की तरह उसके चेहरे से कोई सलवट नीचे झूलती होती... अलबत्ता सिर की उठी हुई कलंगी से धीरे से खिसक आयी, कोई एक फुर्तीली लट कॉपी तक झुक आती। कभी–कभी तो यह फुर्तीली लट ऐन कॉपी के ऊपर ही झुक आती और लड़की की अंगुलियों में फँसे बॉलपेन के सिरे में अटक जाती। लड़की अपने सिर को झटक देती, तो नीची उतरी लट फिर से अपनी जगह पर जा चिपकती। पर ऐसा...करते अचानक लड़की को... वहाँ, जहाँ सीवान से दूर बिछी कोरे–गोरे टीलों की कोमल देह पर सोनल रेत लहरों की नाईं बह रही होती, नजर आती। लड़की की नजरें चिपक पड़ती, जैसे क्षण भर के लिए वह अपना होमवर्क भूल जाती...क्षण भर के लिए वह अपना स्कूल भूल जाती...क्षण भर के लिए वह अपना खेल भूल जाती... क्षण भर के लिए वह अपना घर, दादी और... और खुद अपना वजूद भी भूल जाती। दूर पश्चिम में जाते बटोही के लाल दमकते चेहरे का प्रतिबिंब कोरी–गोरी देह पर...लहरों के मानिंद बहती सोनल रेत पर पड़ता देख, वह क्षण भर के लिए अपनी इस दुनिया या उस दुनिया में नहीं, बल्कि किसी और ही दुनिया में होती...अपनी अलग और न्यारी–निराली कोमल–सी दुनिया में...।

हाँ, लड़की के पास अपनी अलग दुनिया थी। सोनल रेत और हरियाली धरती की दोनों दुनियाओं से अलग इस दुनिया का किसी दूसरे को कुछ पता न था। बस! खुद लड़की को ही पता था...या फिर उसे। उसे..?किसे .. ?लड़की बताती नहीं। अपनी दादी को भी नहीं। पर दादी को सब पता है। लड़की ने खुद कभी नहीं बताया और न ही ऐसी किसी बात का छोर ही पकड़ाया, जिसे पकड़कर लड़की की दुनिया में जाया जा सके। तो फिर दादी को कैसे पता?यह तो नहीं पता पर...पर इतना तय है कि दादी को पता था।

शुरू–शुरू में तो लड़की सोचती–'ना, यूँ ही वहम है उसका..।' पर अब इन दिनों उसने कतई मान लिया था कि दादी को सब पता है। सब पता है... मान लिया, पर माना लड़की ने यूँ ही नहीं! बाकायदा होमवर्क किया था उसने। वैसे लड़की चालाक तो नहीं, पर अपना पक्ष बचाना जानती थी। उसे जब जरा वहम हुआ, तो उसने अपनी पड़ताल शुरू कर दी। माँ को टटोला। पर माँ बेचारी को तो चूल्हे–चौके और ढोर–डंगर से ही फुर्सत नहीं। बापू?बापू कब पूरा होते यहाँ?आधे वहाँ गाँव में और आधे यहाँ ढाणी में और ढाणी में भी कौन–से पूरा होते। ढाणी में होते हुए भी उधर दूर गदवाले खेत में होते जैसे। पीछे रहा छोटा भाई नंदू। नंदू बेचारा कुछ जानता तक नहीं। अभी ठीक से पाजामे का नाड़ा भी नहीं बाँधना आता। बची दादी। दादी को तो सब पता था।

पता हो भी क्यों नहीं?उम्र ले रखी थी। कितनी?कितनी तो उसे भी नहीं पता, पर एक बार उसने पता करने की कोशिश की थी। पहले–पहल जब एक दिन उसे लगा कि कोरे–गोरे टीलों की लहरें दादी के चेहरे की सलवटों–सी हैं, तो वह छत से भागकर नीचे आयी और बाहर दालान में बैठी दादी के पास बैठ गई। दादी अपने रोज के कार्य में लगी थी। गुदड़ी पर झुके दादी के चेहरे की सलवटें रोज की तरह ही लटक रही थीं। उसने दादी के चेहरे से लटकती सलवटों को गौर से देखा। एक–दो– तीन–चार...कितनी होंगी?सलवटें ?हाँ.. हाँ, सलवटें और उम्र भी! दादी की उम्र शायद सौ के आस–पास होगी। उसने धीरे–से अपने हाथ से दादी की लटकती एक सलवट को पलटकर देखा। सौ नहीं डेढ़ सौ साल?उसने आश्चर्य से एक और सलवट को पलटा .. दो सौ साल। उसने जल्दी–जल्दी कई एक सलवटों को और पलटा...तीन सौ...चार सौ साल...?

'हुश्त...पगली!' दादी ने अचानक उसका हाथ पकड़कर परे हटा दिया और लाड़ से झिड़क दिया।

लड़की ने अब निश्चय ही मान लिया था कि दादी सब जानती थी। पर यूँ मान लेने पर भी उसके होठों पर एक मुस्कुराहट पसर आयी। दादी ने सब कुछ जानते हुए ही आज तक उसे कभी टोका–बरजा नहीं। वह दादी के सामने ही आती–जाती। हां... हां, अपनी दुनिया में। पहले तो कभी–कभार नागा हो भी जाता था, पर इन दिनों साँझ ढले वह अपना होमवर्क पूरा करते ही नियमपूर्वक जाती थी! लड़की अपनी दुनिया से लौटकर जब फिर से इस दुनिया में आती, तो दादी उसे आयी देख धीरे–से मुस्कुरा देती। लड़की जैसे अकबका जाती। दादी की मुस्कुराहट से अचानक वह चौकन्नी हो उठती। इधर–उधर देखती। अपने कपड़ों को झाड़ती, देखती...कहीं कुछ चिपककर तो नहीं आ गया! लड़की अपनी समझ से अपनी दुनिया के सारे खोज–निशान वहीं छोड़–छाड़ कर आती, पर फिर भी, हो न हो...।

आपको अभी–अभी बताया न...लड़की की अपनी एक दुनिया थी। अलग और निराली दुनिया। जहाँ कोरे–गोर टीलों की लहरें भी थीं और हवा के झूले में झूलता झौंका भी पर... पर इससे अलग भी बहुत कुछ था, जिसे ठीक से बताया नहीं जा सकता; क्योंकि ठीक से तो अभी खुद लड़की को भी पता नहीं। वह तो जाने पगलाई–सी घूमती रहती बस्स... एक ही जगह.. बैठे–बैठे। उसकी देह नहीं चलती, मन चलता और जब चलता हुआ मन आखिर थक जाता, तो वह फिर से अपनी उसी पहले वाली दुनिया में लौट आती। जहाँ माँ होती, बापू होता, भाई..काकी.. ताई सभी होते.. और... और दादी भी तो होती। दादी के सामने आते ही उसके कदम क्षण भर के लिए झिझक जाते.. आजकल। वह सोचती, कहीं दादी को...?इसी उधेड़बुन में रात भर वह देर तक करवटें बदलती रहती, पर दूसरे दिन साँझ ढलते–ढलते फिर से उसके पाँव जैसे उड़ने लगते।

लड़की की दुनिया छोटी तो नहीं, पर वह उसे करीने से, तह करके अपने चौतरफ लपेटे रखती। जहाँ तक जाना होता, चली जाती। दुनिया की लपेट को जरा–सी खोलती और मन करता उतनी दूर घूमकर लौट आती। वैसे आमतौर पर उसे अपनी दुनिया की लपेट खोलने की जरूरत नहीं आन पड़ती, अधिकतर सफर तो वह बैठे–बैठे ही कर लेती। लड़की अलबत्ता तो खेत की नाले या ट्यूबवेल के हौद के पास बैठी रहती, नहीं तो अधिक से अधिक नहर के मोघे के पास सटी ढालू तक घूम आती, बस्स!

सूरज की आखिरी किरण डूबे काफी देर हो जाती, पर लड़की अभी तक नाले के बहते पानी में अपने पाँवों को डुबोए बैठी रहती। उसके गोरे–गोरे और संगमरमरी पैरों से टकराता पानी जैसे शर्माने लगता, पर साथ ही बार–बार अपना गंदी हाथ लड़की के पैरों से छुआता भी जाता। लड़की अपने पैरों को क्रॉस की तरह आड़े–तिरछे हिलाती जाती। इतनी सफाई से कि शांत पानी का एक कण भी इधर–उधर नहीं हो पाता। पानी को जैसे गुदगुदी होने लगती और क्षण एक में उसका शर्माना भाग जाता। अब वह लड़की के साथ उछल–कूद करने लगता। लड़की को भी खेलने का जैसे बहाना मिल जाता। काफी देर तक खेल चुकने के बाद लड़की अचानक जब अपने पाँवों को रोकती, तो उछलता हुआ पानी भी चुपा जाता। वह अपने पनीले बदन पर पड़ती लड़की की परछाईं को देखता। लड़की के पाँव अब स्थिर होते, लड़की की आँखें अब स्थिर होतीं, पर...पर शायद लड़की का मन स्थिर नहीं होता। आज वह अभी तक नहीं आया था। देर तो काफी हो चुकी थी...और कितना इंतजार करे वह?वहाँ माँ इंतजार करती होगी...बापू भी इंतजार करता होगा...ना ना..., पर दादी तो इंतजार करती ही होगी। उसे लगा आज काफी देर हो चुकी थी। ... शायद अभी उसके आने का समय हुआ नहीं था। उसने पानी से अपने पाँवों को

निकाल लेना चाहा। पानी को यह अच्छा नहीं लगा। अच्छा तो खुद लड़की को भी नहीं लगा पर..?

पर लड़की को अपने पाँव बाहर निकालने पड़े। जरा देर पहले पाँवों के साथ हिलता हुआ पानी अभी स्थिर हो ही रहा था कि अचानक उसमें एक चेहरा दिख आया। पानी में दिखते लड़की के चेहरे के पास एक और चेहरा। पास और पास, इतना पास कि लड़की के चेहरे की परछाईं के ठीक ऊपर अब उस चेहरे की परछाईं थी। नहीं.. नहीं, शायद उसकी परछाईं के ऊपर लड़की की परछाई थी। शायद...का गुलाबी चेहरा अब उसके धवल चेहरे में घुल रहा था या...पानी में दमकते उसके धवल चेहरे में लड़की का गुलाबी चेहरा घुल रहा था?ठीक से कुछ कहा नहीं जा सकता। पर अब चारों ओर उजास था और वह अपनी पूरी जवानी पर था। चौदहवीं के बाद पूनम की जवानी के साथ ऊपर उसके होठों से झिरझिर चाँदनी झर रही थी...नीचे खिड़–खिड़ लड़की खिलखिला रही थी। पानी..?घूम–घूम उसके चौफेर घूम रहा था। ऊपर राजवी.. राजी था.. नीचे लड़की खुश थी और चौफेर...मतलब...।

एक..दो..तीन.. दिनों के बाद दिन बह गए। दिन नहीं, महीनों के बाद महीने बह गए। महीने नहीं, सालों के बाद साल बह गए। लड़की इंतजार करती, पर जाने अब इंतजार चुभने लगता, उसे वह कभी ऊपर आकाश की ओर टकटकी लगाए रहती..कभी नीचे पानी में अपने पाँवों की ओर। महीने में पंद्रह दिन उसके जल्दी आने के होते। तब जैसे ही लड़की के पाँव पानी में उतरते ठीक तभी वह आ जाता और फिर उन दोनों के पाँव पानी में होते। उन दोनों के चेहरे पानी में होते। उन दोनों की देह पानी में होती। पानी लड़की के पाँवों का गुलाबी रंग घुलाता जाता.. घुलाता जाता. घुलाता जाता और उसे पता ही नहीं चल पाता कि कब उसका गुलाबी रंग राजवी के धवल रंग में घुल गया होता। जरा देर बाद तो रंग इस कदर घुल जाता कि कोई पहचान ही न पाए। पानी में हिलती दोनों देह अब कुछ–कुछ गुलाबी होती है...दोनों देह अब कुछ–कुछ धवल होती।

पर महीने में बाकी के पंद्रह दिन कैसे कट पाते, यह वही जानती। बैठे–बैठे अकुला जाती और उसके भीतर की बेकली उसे चैन नहीं लेने देती। वह नाले की पटरी पर चक्कर पर चक्कर लगाती जाती। पटरी से नीचे क्यारियों में लहराती गेहूँ की ओर उदास निगाह से देखती...और फिर से इंतजार करने लगती। इधर वह इंतजार करती और उधर पानी इंतजार करता रहता कि कब लड़की अपने पाँव उसकी पनीली देह से टकराए और कब वह अपने हाथ से उसे छुए। लड़की का इंतजार जब काँटे से अधिक तीखा हो जाता, तो उसका मन करता जैसे घड़ी–भर के लिए रो पड़े।

जब दिनों के बाद महीने आए और महीनों के बाद साल.. तो कुछ न हो, यह नहीं हो सकता। कुछ न कुछ तो होकर ही रहता है और कुछ हो गया। हुआ यह कि महीने के वे कठिन पंद्रह दिन अब जरा सरल हो गए। अब लड़की को इंतजार चुभता नहीं। वह आता.. आता तो अभी भी देर से ही, पर उसके आने से पहले
उसका संदेश आ जाता। राजवी खुद नहीं आता, पर राजवी की आवाज आ जाती। पानी में 'छपाक..छपाक' करती लड़की को एकबारगी तो लगता शायद पानी ने कुछ कहा हो.. या फिर 'टन..नन..न..न' की आवाज के साथ दादी के कमरे की वंदनवार बोली हो। पर फिर एक साथ बजती घंटियों की आवाज सुनते ही अचानक लड़की के हिलते पाँव थम जाते। 'हैलो..!' के साथ ही उसके पाँव और होठ, दोनों झूलने लगते पानी में... बातों में.. सपनों में.. हाँ..हाँ, हरियल सपनों में तबतक, जबतक वह खुद नहीं आ जाता। उसके आने के बाद..पाँव नहीं..होठ नहीं..उसकी पूरी देह...उसका पूरा वजूद झूलने लगता.. उसके संग–संग...उसके अंग–अंग...मतलब...।

यूँ झूलते–झूलाते एक दिन वे दोनों उछल–कूद कर रहे थे। नीचे पाँवों में पानी भी उछल–उछल रहा था। उछलते पानी ने अपनी कौंध में लड़की का प्रतिबिंब देखा। उछलते पानी ने अपनी कौंध में राजवी का प्रतिबिंब देखा। उछलते पानी ने अपनी कौंध में एक नया प्रतिबिंब देखा। कँवला–सा..चाँदनी पगा, गुलाबी... और अनजाना–सा। पानी काफी देर तक अपनी टकटकी बाँधे देखता रहा, उसे न जाने कितनी देर तक उसे तो तब भान हुआ जब बावरी हवा का झौंका धीरे से आया और लड़की के कान में 'फुस्स फुस्स..' कुछ कह गया। लड़की शर्माने लगी। उसने अपना बायाँ हाथ अपने पेट पर फिराया और मुस्कुराते हुए नजरें झुका लीं। राजवी पता नहीं कब का जा चुका था।

ऐसे ही किसी दिन, लड़की अकेली अपने पाँवों को लटकाए ट्यूबवेल के हौद पर बैठी थी। नीचे हौद में पानी इंतजार कर रहा था। ऊपर हौद पर लड़की इंतजार कर रही थी, पर वह अभी आया न था। लड़की से और इंतजार न हुआ। उसने बटन दबाया। घंटी गई 'टनन न..न..न'।

बात हो गई। आज नहीं आएगा। वह मौसम खराब था। लड़की ने ऊपर आकाश की ओर देखा। थोड़ी देर पहले का नीला और साफ–सफ्फाक आकाश अचानक से काले–काले और मटमैले बादलों से घिर गया था। अंधेरा आज जल्दी–जल्दी नीचे उतरने की तैयारी में था। पक्षियों की आखिरी कतार कब की लौट
चुकी थी, अपने घर। ..और लड़की ने अपने घर को याद किया..सोचा। सोचा मौसम खराब है...सोचा अब चलना चाहिए। वह फदाक–से हौद की दीवार से कूदकर नीचे आ गई। दो कदम चली, पर आँखों के सामने अंधेरा छा गया। जी घबराने लगा और आखिर उसे उबकाई आ गई। खाया हुआ तो कुछ न था, पर खट्टा
खट्टा–सा पानी आ गिरा। 'हो..हो.. ऽ' उबकाई करते हुए वह बैठने लगी, तो हाथ खुद–ब–खुद पेट पर आ गया। उसने अपना हाथ पेट पर फिराया। पेट जरा–सा उठ आया था।

थोड़ी देर बाद मन जरा ठीक था। उसके होठों पर टूटी–सी एक मुस्कुराहट पसर आई और साथ ही आँखों में चिंता।
'दादी को पता चलेगा तो?' चिंता ने अपने शब्द बाहर निकाले।
भय लगा। पर सोचा, दादी तो उसे कभी कुछ कहती नहीं?पर..कोई कितना ही भला हो, भले ही...ऐसा होने पर सीधे झपट ही पड़ता है, 'कहां गई थी?'
उसने इधर–उधर देखा। ऊपर आकाश की ओर देखा। राजवी कहीं नहीं था। चारों ओर काले बादलों ने अपना कंबल बिछा रखा था। उसके लिए कहाँ जगह होती। लड़की ने बादलों के पीछे..बादलों के नीचे..बादलों के बाएँ–दाएँ..हर कहीं ढूंढ लेना चाहा, पर वह नहीं मिला। थक–हारकर डरते–डरते वह फिर से हौद की दीवार पर आकर बैठ गई और अपने पाँवों को नीचे झुला दिया। न जाने कितनी देर तक बैठी रही वह..चुप–चुप। उसे तब होश आया, जब पत्तों–पत्तों.. टहनी–टहनी.. नालों–नालों, खेत–क्यारियों और ढाणी–डेरों से होता हुआ बावरी हवा का झोंका दबे पाँव आया और हौले–से उसके कान में 'फुस्स.. फुस्स'.कुछ कह गया।

लड़की ने सुना..सुना और अपने होठों ही होठों में फिर से दोहराया। अचानक फदाक–से छलांग लगाते हुए वह हौद से नीचे उत्तर आई। अपने कपड़ों को जरा ठीक किया और चल पड़ी। अब वह सीधे घर की ओर जा रही थी। हवा के झोंके से नहीं..जैसे दादी से उसकी बात हो गई थी।

आलेख

दिनकर के काव्य में राष्ट्रीयता

डॉ. अवधेश कुमार चन्सौलिया
प्रा0 हिन्दी, डी.एम. ग्वालियर (म.प्र.)
मो. : 9570949262

राष्ट्रीय भावना में व्यक्तिगत हितों की उपेक्षा कर, राष्ट्र के सामाजिक एवं सामुदायिक हितों को सर्वोपरि माना जाता है। मैथिलीशरण गुप्त राष्ट्रीयता के लिए – प्राचीन गौरव पर विश्वास और अभिमान, देशप्रेम, संस्कृति का सुधार और स्वतंत्रता जैसे भावों को प्रमुख मानते हैं। राष्ट्रीयता में स्वसंस्कृति की रक्षा एवं उन्नति की भावना
निहित होती है। डॉ. नगेन्द्र के अनुसार–'देशभक्ति में राग उत्साह के साथ मिलकर उदात्त रूप धारण कर लेता है।''1

हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीयता से ओत–प्रोत अनेक कविताएँ मौजूद हैं। ऐसी कविताओं में श्यामलाल गुप्त पार्षद की 'विजयी विश्व तिरंगा प्यारा' बंकिम चन्द्र चटर्जी की 'वन्दे मातरम्' वंशीधर शुक्ल की 'खूनी पर्चा', माखनलाल चतुर्वेदी की 'पुष्प की अभिलाषा', कैप्टन राम सिंह की 'कदम कदम बढ़ाए जा', राम प्रसाद बिस्मिल की 'सरफरोशी की तमन्ना' आदि प्रमुख हैं। इन कविताओं ने स्वतंत्रता–संग्राम में अहं भूमिका निभाई।

मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, श्याम नारायण पाण्डेय, सुभद्रा कुमारी चौहान की तरह ही दिनकर भी आधुनिक भारतीय साहित्य में राष्ट्रीय भावना के सजग प्रहरी हैं। दिनकर की काव्य–साधना 20वीं के तीसरे दशक से प्रारम्भ हुई, देश में यह युग सामाजिक एवं राजनीतिक जागरण का युग था। ऐसे युग में दिनकर का आगमन एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। उन्होंने काव्य को कल्पना के आकाश से उतारकर यथार्थ के धरातल पर लाकर खड़ा किया। सामयिक समस्याओं के प्रति दिनकर पूर्णतया सजग रहे। सन् 1939 में प्रकाशित 'हुंकार' को उन्होंने युगधर्म की हुंकार बताया। रेणुका में वे कहते हैं–
''गत विभूति भावी की आशा ले युगधर्म पुकार
सिंहों की घन अंध गुफा में
जागृति की हुंकार उठे।''

दिनकर जी अपने काव्य में कहते हैं कि देशी समस्याएँ देशी तरीके से ही सुलझेंगी, मास्को की ओर दिखने से नहीं। वे 'सामधेनी' में बताते हैं–
''अर्जित करो, समिध आओ हे! समता के अभिमानी
इसी कुंड से निकलेगी, भारत की लाल भवानी।''

युद्ध एवं उनकी समस्याओं का तर्कपूर्ण विवेचन वे कुरुक्षेत्र में करते हैं। उनका मानना है कि देश की रक्षा शक्ति से होती है, न कि हिन्दी–चीनी भाई–भाई से। उनके अनुसार पंचशील सिद्धान्त तभी फलीभूत होंगे, जब हम ताकतवर होंगे। यथा–
''ऋषियों को भी सिद्धि तभी तप से मिलती है
जब पहरे पर धनुर्धर राम खड़े होते हैं।''

वे भारत के भाग्य पुरुष को परशुराम के रूप में देखना चाहते हैं–
है एक हाथ में परशु एक में कुश है
आ रहा नये भारत का भाग्य पुरुष है।

'धूप और धुआं' तथा 'नील कुसुम' काव्य संग्रहों में देश की समस्याओं पर बहुत ही मार्मिक चिंतन करते हुए आजादी को सुरक्षित रखना भी चुनौती भरा मानते हैं –
''आजादी नहीं चुनौती है, यह बीड़ा कौन उठायेगा
खुल गया द्वार पर कौन देश को मंदिर तक पहुँचायेगा।''

'समरशेष है' और 'एनार्की' कविताओं में उन्होंने तत्कालीन भ्रष्टाचार, अनुशासनहीनता, जातिवाद आदि बुराइयों का यथार्थ चित्रण किया है। 'दिल्ली' कविता में वे नेताओं को चेताते हुए कहते हैं–
''तो होश करो, दिल्ली के देवो! होश करो
सब दिन तो यह मोहिनी न चलनेवाली है।''

'दिनकर' ने हिन्दी कविता को एक नया मोड़ दिया। मन्मथ नाथ गुप्त ने उचित ही कहा है कि ''हिन्दी साहित्याकाश में दिनकर का उदय एक असाधारण घटना है। वे हमारे पग के सबसे अधिक प्रतिनिधि कवि हैं। एक कवि के नाते उन्होंने हुंकारमयी वाणी से एक बार समस्त हिन्दी भाषी जनता और साहित्यिक जगत को झकझोर दिया। दिनकर की कविता में सामाजिक उत्पीड़न, बेबसी और वेदना का कुन्दन नहीं, बल्कि उनके विरुद्ध गर्जन भी सुनाई देता है। उसमें भारत के गौरवपूर्ण अतीत की झाँकी, राष्ट्रीय चेतना, सामाजिक वैषम्य अनैतिकता के प्रति विद्रोह, प्रकृति का भावुकतापूर्ण आख्यान तथा प्रेम और शृंगार का मादक रूप, सभी विद्यमान हैं। दिनकर की कविताएँ भारतीयों में स्वदेशानुराग उत्पन्न करती हैं। वे देश, धर्म और संस्कृति की सुरक्षा हेतु मर–मिटना सिखाती है। कवि 'तांडव' कविता में नटराज शंकर से ऐसा तांडव नृत्य करने को कहता है, जिससे आग बरसे, झंझानिल बरसे, त्राहि–त्राहि मचे, अतल–पाताल ओर–छोर तक सृष्टि भस्म हो, अहंकार का नाश हो।

दिनकर ने अतीत गौरव गान से भी राष्ट्रीय चेतना जागृत करने का प्रयास किया है। इस दृष्टि से 'हिमालय' कविता महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि वे गांधीजी के अहिंसावादी सिद्धान्त से नाखुश थे, फिर भी वे उनकी अन्य बातों के समर्थक थे। दिनकर ने 'पराजितों की पूजा' और 'महामानव की खोज' में गांधी दर्शन का पूर्णतया खण्डन किया, लेकिन 'बापू' कविता में वे उनके समर्थक भी हैं। भारत का यह रेशमी नगर में वे भ्रष्ट राजनीतिज्ञों, अफसरों, उद्योगपतियों पर तीखा व्यंग्य करते हैं। वे कहते हैं – ''दिल्ली में तो हैं खूब ज्योति की चहलपहल पर भटक रहा है सारा देश अँधेरे में।'' उन्होंने 'एनार्की' कविता में स्वतंत्र भारत के नागरिकों की उच्छृंखलता, अनैतिकता और कालाबाजारी जैसी समस्याओं पर प्रहार किये है। भारतीय सांस्कृतिक क्षरण को वे सहन नहीं कर पाते और ऐसे समय वे अति उग्र हो जाते हैं। कवि दिनकर की राष्ट्रीय चेतना अत्यंत उदार एवं विशाल है, उसमें केवल स्वराष्ट्र प्रेम को ही महत्त्व नहीं दिया गया है, अपितु उसके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय एवं 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का भाव भरा हुआ है।''[3]
'धधक होलिके' कविता में आयरलैण्ड के क्रांतिकारी नेता मैकिस्वनी और इटली के देशभक्त मेजनी के प्रति वे श्रद्धा प्रकट करते दृष्टिगत होते हैं।.

दिनकर भावी भारत के निर्माण के लिए आर्थिक समता और जनसाधारण की सत्ता में भागीदारी को प्रमुख मानते थे। दिनकर के काव्य में ओज और ललकार की प्रधानता है। सन् 1950 के प्रथम गणतंत्र दिवस पर उन्होंने ललकार कर कहा था–
''सबसे विराट जनतंत्र जगत का आ पहुँचा
तैंतीस कोटि हित सिंहासन तैयार करो
अभिषेक आज राजा का नहीं प्रजा का है
तैंतीस कोटि जनता के सिर पर मुकुट धरो।।[4]

वे राष्ट्र के अस्तित्व के लिए शूर–धर्म को अनिवार्य मानते हैं। उनके अनुसार–

शूर धर्म है अभय दहकते अंगारो पर चलना,
शूर धर्म है, शोषित असि पर, धर कर चरण मचलना।''

डॉ. नगेन्द्र ने कहा है कि–''दिनकर ने राष्ट्रीयता की पहचान को चिंतन–परीक्षण तथा आत्मलोचन का स्वरूप ही प्रदान नहीं किया, वरन राष्ट्रीयता को सार्वभौम मानवता के रूप में विकसित होने का स्वप्न भी देखा है। यह विकास बुद्धि के ऊपर संवेदनशील हृदय के शासन होने पर ही संभव है।'' आज नेताओं की दुर्बुद्धि के कारण भारत में पुनः विघटनकारी शक्तियाँ सक्रिय हो गयी हैं, ऐसे संक्रमण काल में 'दिनकर' देश के लिए पुनः प्रासंगिक हो गये हैं।

संदर्भ–
1. सुनीति – दिनकर के काव्य में राष्ट्रीय भावना, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल आगरा पृ. 7
2. वही पृ. 214
3. द्वारिका प्रसाद सक्सेना, दिनकर का काव्य, दि मैकमिलन कम्पनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, सन् 1979, पृ. 16
4. साहित्य परिक्रमा, जनवरी–मार्च 2008, डॉ. कन्हैया सिंह, रामधारी सिंह दिनकर और राष्ट्र की भावी दिशा पृ. 117
15. वीणा – फरवरी 2000, श्रीमती नीलिमा वर्मा राष्ट्रीय सांस्कृतिक धारा के ओजस्वी कवि दिनकर, पृ. 95

कविताएँ

मीनू मीना सिन्हा
कुसुम विहार, मोराबादी रांची (झारखंड)
संपर्क –7903963302, 9835551769

मतदान मन की करना भैया

पता नहीं कब कौन किधर
कभी इधर तो कभी उधर

देखूँ भला किस–किस ओर
लगे नहीं कोई ओर–छोर

कभी मारकाट, कभी गलबहियाँ
कभी मखमली तो कभी बघनियाँ

जिधर देखे पूड़ी, उधर जाए घूरी
मुँह में राम और बगल में छूरी

बेमेल रिश्तो की बेमानी अकथ कहानी
एक ही थैली के चट्टे –बट्टे, खींचातानी

पाले बदले तेजी से, समझो चुनाव सर पर
रूख उधर ही हो रहा ,कोसा पानी पी –पीकर

सँभल– सँभल कर चलना है,
चाहे जितना बँटे रुपैया
प्रजातंत्र के प्रहरी हम
मतदान तो मन की करना भैया

मतहीन मतदाता

मैं इधर भी हूँ, मैं उधर भी हूँ ।
जहाँ मेरी जरूरत हो वहाँ खड़ा रहता हूँ ।।

इसकी भी जय है उसकी भी जय है ।
जब–जब जिसे जैसा चाहिए वैसा हो जाता हूँ ।।

तंग राजनीतिक गलियारों की पहचान नहीं ।
खुले आसमान के तले बिखरी जिंदगी जीता हूँ ।।

चंद रोटी के टुकड़े, कुछ सहूलियतें ।
जयकारे की दरकार हो, जमकर लगाता हूँ ।।

दिल से भोला–भाला, छल–कपट से अनजान ।
चिकनी–चुपड़ी बातों में फिसल खुद मालिक समझता हूँ ।।

भेड़िए मुझे दिखते नहीं, अंगुलियों से ठप्पा लगाकर ।
खुद ही जिबह होने तनिक मोलतोल बिकता हूँ ।।

लोकतंत्र का प्रहरी मैं मजबूर मतहीन मतदाता ।
अपमानित, तिरस्त, निंदित, चंद टुकड़े सब झेलता हूँ ।।

कोई जीते–हारे, शिकवा–न–शिकायतें ।
जिंदाबाद–मुर्दाबाद ,जैसी जरूरत हो पुरजोर नारे लगाता हूँ ।।

मैं इधर भी हूँ, मैं उधर भी हूँ ।
जहाँ मेरी जरूरत हो वहाँ खड़ा
रहता हूँ ।।

मौसम हुआ चुनावी

नेताओं के चेहरे गड्डमड्ड होकर
कुंडली मारे चहुँओर फैलने लगे हैं
फुफकारते, सरसराते, बलखाते
विषैली चोटों से डसने लगे हैं
दो–चिरी काली लप–लपाती जिह्वा,
लपलपाहटों से डराने लगे हैं

हथियारों की धारों की तेजी से
तलवारों की प्यासें बढ़ने लगी हैं
चप्पे–चप्पे पर चौकन्नी खूनी आँखें
शिकारों को तलाशने लगी हैं
दमघोंटू विषाक्त हवाओं में
साँसे दूभर होने लगी हैं

जहरीली मुस्कान के निश्चिंत तेवर
निहत्थों को डराने लगी हैं
पता नहीं किस–किस की बलि चढ़े
माँए अपने आँचल फैलाने लगी हैं
साँप और नेवले का द्वंद यु)
तमाशाइयों की आँखें बिछने लगी हैं

आलेख

बाँग्ला साहित्य और संस्कृति एक वैचारिक दृष्टि

डॉ. अमर सिंह बधान
प्रोफेसर एमरिट्स, चंडीगढ़
मो. 9876301085

ऐतिहासिक साक्ष्य है कि सन् 1014 में आर्कबिशप वुल्फस्टन ने यार्क में दिए गए अपने एक प्रवचन में कहा था–''विश्व बहुत तेजी से बढ़ रहा है और अपने अंतिम बिन्दु के निकट पहुँच रहा है।'' यह सहज ही कल्पना की जा सकती है कि इतनी सदियों के गुजरने के बाद आज भी इन्हीं भावात्मक विचारों को व्यक्त किया जा रहा है। यह अभिव्यक्ति सामाजिक विज्ञानों, भौतिक विज्ञानों एवं साहित्यशास्त्रों में आज भी गुंजित–प्रतिगुंजित है। इस स्थल पर प्रश्न खड़ा है कि क्या प्रत्येक समय की आशाएँ और उत्सुकताएँ पूर्व युगों की मात्र कार्बन कॉपी है?सवाल यह भी जवाब माँगता है कि क्या 21वीं सदी की दुनिया पूर्व–समयों के यथार्थ से कुछ भिन्न है?उत्तर है, यह बिल्कुल भिन्न है। ऐसे कई वाज़िब और वस्तुनिष्ठ कारण हैं,जो विश्वस्त करते हैं कि हम ऐतिहासिक परिवर्तन के मुख्य समय से गुजर रहे हैं और रह भी रहे हैं। कहना न होगा कि परिवर्तन करनेवाले कारण किसी एक ही क्षेत्र विशेष से संबंधित नहीं हैं, ये तो विश्व स्तर पर फैले हुए हैं।

इसमें कोई शक–शुबहा नहीं है कि हमारा युगान्तर विज्ञान, प्रौद्योगिकी एवं तर्कशील विचार के तहत विकसित हुआ है, जिसका उद्गम स्रोत 17वीं सदी का यूरोप है। वैसे वहाँ की उपज देकार्त भी है, जिसे असंदिग्ध रूप से आधुनिक विज्ञान का पिता कहा जाता है। आश्चर्य नहीं कि नए विचारों ने पश्चिमी औद्योगिक संस्कृति को बदला और विचारकों, दार्शनिकों तथा लेखकों ने धर्म और विश्वासों के प्रभाव का विरोध किया तथा यथार्थ एवं व्यावहारिक जीवन का एक तर्कसंगत मार्ग खोज निकाला। दार्शनिकों ने सशक्त सूत्रों का प्रतिपादन किया, तो साहित्यकारों, कलाकारों एवं संस्कृतिविदों ने अपने मौलिक सिद्धान्तों और नियमों की खोज की। इस संदर्भ में एक दिलचस्प साहित्यिक प्रयोग है कि नीरो ने रोम में इसलिए आग लगाई थी
कि जलते हुए रोम के अपने वर्णन के लिए यथार्थ सामग्री प्राप्त कर सके। यह दृश्य चाहे कितना ही शानदार रहा हो और उसका उद्देश्य चाहे कितना ही कलात्मक क्यों न रहा हो, इस तरह की कल्पना को घिनौनी और स्वस्थ मानव प्रकृति के विरुद्ध ही कहा जाएगा। प्रथम विश्वयुद्ध (1914–1918) की गगनचुंबी लपटों को अनुभव कर टी.एस. इलियट की 'द वेस्ट लैंड' में सही चीख निकली थी। फ्रांस के कई उपन्यासकार नीरो से प्रभावित होकर विकृत अतियथार्थवाद की ओर मुड़ गए थे। बाँग्ला उपन्यासकारों पर भी अतियथार्थवादी विचारधारा का प्रभाव दिखाई देता है। विमल मित्र कृत 'किस्सा कलकत्ता का' उपन्यास भारतीय एवं विश्व के गर्वीले महानगरों को विकृत वास्तविकता को ही उजागर करता है। बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, रवीन्द्रनाथ टैगोर, शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय, सुनील गंगोपाध्याय, प्रभात कुमार मुखोपाध्याय आदि के उपन्यासों में अतियथार्थवाद के कई चित्र देखने को मिलते हैं।

लेकिन विश्व को समझने के लिए हम जितने तर्कसंगत होंगे, उतने ही हम इतिहास को अपने स्वयं के उद्देश्य के लिए आकारित करने में सक्षम होंगे। भविष्य को नियंत्रित करने के लिए हमें स्वयं को अतीत की आदतों एवं पूर्वग्रहों से मुक्त होना पड़ेगा। रवीन्द्र साहित्य इसी मुक्ति का उद्घोष है। स्मरणीय है कि कार्ल
मार्क्स ने विचार दिया था कि इतिहास निर्माण के लिए हमें इतिहास को समझना लाजमी है। मार्क्स और मार्क्सवाद के इसी विचार ने 20वीं सदी को एक विशालकाय स्तर पर प्रभावित किया। लेकिन विज्ञान और प्रौद्योगिकी के आगामी विकास ने विश्व को स्थिरता और क्रमबद्धता प्रदान की। हैरत की बात है कि विरोधी विचारकों ने भी कालान्तर में इसी विचार को अपनाया। जॉर्ज ऑरवेल एवं मैक्स वेबर ने तो ऐसे समय की परिकल्पना कर डाली, जिसमें मनुष्य एक विशाल सामाजिक एवं आर्थिक मशीन का पुर्जा बनकर रह जाएगा। सच है कि आज मनुष्य एक 'कमोडिटी' एवं रात–दिन चलनेवाले यंत्रों का एक हिस्सा बनकर रह गया है। अर्थ केन्द्र में है और मानव हाशिए पर। दरअसल, हम भगदड़ दुनिया के नागरिक हैं। वैश्विक जलवायु बदला है और इससे ख़तरे बढ़े हैं। परिवेश में हस्तक्षेप से खतरनाक परिणाम सामने आए हैं। रवीन्द्रनाथ टैगौर ने 'शांतिनिकेतन' के रूप में इसी प्रतिकूल परिणाम की चुनौती को बखूबी समझा था। हमारे प्राचीन
ऋषियों–मुनियों के स्वच्छ वातावरण में स्थापित आश्रमों की तरह यह भी रवीन्द्र ऋषि का एक पर्यावरणित आश्रम है। बाँग्ला साहित्य की विभिन्न विधाओं में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से स्वच्छ, स्वस्थ एवं विशुद्ध परिवेश की झाँकियाँ देखने को मिलती हैं, जिनका उल्लेख इस ग्रंथ के लेखकारों ने भी अपने लेखों में किया है।

बड़े विश्वास से फ़क्र किया जा सकता है कि बाँग्ला भक्ति काव्य की अपनी विलक्षण विशेषताओं एवं उच्चतम शिखरों को प्राप्त करने के कारण इसकी अन्य भाषाओं में रचित भक्ति काव्यों की तुलना में एक विरल एवं अलग ही पहचान है। यह काव्य अपने आपमें एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है, चाहे इसका वर्ण्य विषय कोई भी हो। उल्लेख्य है कि बाँग्ला भक्ति काव्य अनुभूति पर आधारित है और अनुभूति का संप्रेषण भी ग्रहीता के लिए अनुभूति की प्रक्रिया से गुजरना ही है। यहाँ अनुभूति का अर्थ है विषयों और विषय में अभेद, ज्ञाता और ज्ञेय का एकत्व। बाँग्ला भक्ति काव्य में 'ध्यान' को केन्द्रीय कारक माना गया है और ध्यान का अर्थ भी है विषय के साथ रचनाकार का तादात्म्य भक्ति काव्यकारों की अनुभूति मूलतः आत्मानुभूति ही होती है। बाँग्ला भक्ति काव्य का उद्देश्य मानव मात्र को जोड़ना और जीवन को सार्थक अर्थ प्रदान करना है। फिर जुड़ाव और संलग्नता का अनुभव ही जीवन को एक विशिष्ट अर्थ देता है।

यदि गंभीरता से देखा जाए, तो आधुनिक समय में मनुष्य में अस्तित्व के साथ एकसारता का बोध अथवा लगाव की तीव्र अनुभूति संभव नहीं हो पा रही है। मनुष्य के पास जीवन के वास्तविक अर्थ का सवाल पूछने और उस पर विचार करने का अवकाश नहीं है। वह ऐसा जीवन जीने के लिए बाध्य है, जिसमें एक भी पल उसका अपना नहीं है, एक ऐसा पल जिसमें वह अपने 'स्व' में स्थित हो सके। आधुनिक मानव ने गहराई का आयाम गँवा दिया है। वह एक भयानक शून्यता के बीच खड़ा है। अपने पाँवों के नीचे वह किसी ठोस गहराई का अनुभव नहीं करता। ऐसी दयनीय स्थिति से उभरने के लिए बाँग्ला भक्ति काव्य में ऐसा नुस्खा है, जिससे मनुष्य अपने त्रासजनित विवेक को पावनताजनित विवेक में रूपान्तरित कर सकता है। ताज्जुब नहीं कि बांग्ला उपन्यास, कहानी, कविता, नाटक, जीवनी, आत्मकथा आदि विधाओं के प्रबुद्ध रचनाकारों ने भी अपनी कृतियों में आध्यात्मिक प्रश्न पूछे हैं, जो मनुष्य को अपने अस्तित्व के अर्थ तक पहुँचाने में सहायक हैं। इसके मूल में चंडीदास,

विद्यापति, मालाधार बसु, कृतिवास ओझा, जयदेव, चैतन्य महाप्रभु, रामकृष्ण परमहंस, श्री अरविन्द, स्वामी विवेकानंद, रवीन्द्रनाथ टैगौर आदि विभूतियों का अध्यात्म–चिंतन है। पॉल टिलिच, कार्ल जैस्पर्स, मारक्यूज, जुंग, बार्दिएव मैथ्यू आर्नोल्ड एवं रिल्के की तरह बंकिमचन्द्र, शरत्चन्द्र, ताराशंकर, विमल मित्र, सुनील गंगोपाध्याय और प्रभातकुमार ने भी जीवन का अर्थ खो देने की पीड़ा और उसे पाने की विकलता को अपनी रचनाओं में व्यक्त किया है।

यह कहना भी कतई अयुक्त न होगा कि बाँग्ला साहित्यकारों ने सच्चे साहित्यिक साधक बनकर पूरी सत्ता के साथ साधना की है, उसके किसी अंग को सर्वथा छोड़कर नहीं। वे सर्वाधिक स्थानीय होते हुए भी सबसे ज्यादा वैश्विक बने हैं। गिरिशचन्द्र, द्विजेन्द्रलाल राय, जतीन्द्र मोहन, सुरेन्द्रनाथ मजुमदार, इंदिरा देवी, निरूपमा देवी, शैलबाला, मणिशंकर मुखर्जी, बुद्धदेव बसु, जीवनानंद दास, सुबोध सरकार आदि बाँग्ला साहित्यकारों की कृतियाँ विश्व पटल पर अपनी दस्तक दे चुकी हैं। बाँग्ला नारी लेखन कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से बेजोड़ है। अपनी कोमल भावनाओं और उच्च विचारों को अपनी भाषा में कलात्मक ढंग से ढालकर उन्होंने उत्कृष्ट कृतियों की रचना की। बांग्ला साहित्य निर्धारित भौगोलिक सीमाओं में बँधकर कभी नहीं रहा, यह तो राष्ट्रीय सीमाओं का अतिक्रमण करके विश्व परिदृश्य में शामिल हो गया है और मानव स्वभाव की सार्विकता को उजागर करता है। बांग्ला साहित्य प्रारंभ से ही मानव जीवन के लिए रहा है तथा जीवन के अतीत एवं वर्तमान की इसने पुष्टि की है। भविष्य की जैविक संभावनाओं की ओर भी गहरे संकेत दिए हैं।

यह भी धूप की तरह स्पष्ट है कि बाँग्ला महाप्राण मनस्वियों के लिए साहित्य सृजन एक आवश्यकता बनी। वे लेखन
में इतने डूब गए कि यह बात भूल गए, वे क्यों और किसके लिए लिख रहे हैं। यही वह संवेदनशील बिन्दु है, जहाँ लेखक की कलम का उँगलियों के साथ स्थायी रिश्ता बनता है। यह भी गवेषणात्मक साक्ष्य है कि एक स्थायी रचना लेखक के समय और समाज के लिए एक जबर्दस्त प्रतिक्रिया होती है। लेखक का कोलाहल तथा उसकी क्रियाएँ–प्रतिक्रियाएँ भले ही लुप्त हो जाएँ, परन्तु जबतक उसके पाठक हैं, उसकी रचनाओं में उसकी आवाज
गूँजती रहती है। हर युग के बाँग्ला साहित्यकारों की सर्जनात्मक ख्याति से विश्व विश्रुत है, यह तथ्य भी जगजाहिर है।

बाँग्ला साहित्य की भाँति बंगाल की संस्कृति का अपना अलग ही विशिष्ट महत्त्व है। इसमें कोई मत विभाजन नहीं कि संस्कृति समाज की मूल्यगत अवस्था है, जो मानव कल्याणकारी प्रयोजनों से संबंधित उदात्त गुणों, योग्यताओं और मनोरुचियों का आकलन करती है। मानव मूल्यों को स्थापना में संलग्न होने के कारण ही साहित्य एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है। ये मूल्य ही अन्ततः संस्कृति की मूल्यगत उपलब्धियाँ बनते हैं। बाँग्ला साहित्य में संस्कृति नवीन उद्भावनाओं को पोषित करते हुए सामाजिक अनिवार्यताओं के प्रति सचेत दृष्टियुक्त है। बाँग्ला मानव को आदिकाल से वर्तमान अवस्था तक अपनी जैविक और मानवीय अस्तित्व को बरकरार रखने के लिए एक लंबे संघर्ष में से गुजरना पड़ा है। उसने अपने दीर्घ अनुभव एवं बुद्धि के बल पर जीवन मूल्य, रहन–सहन और रस्म–रिवाज सृजित किए और वह एक सभ्य मनुष्य के तौर पर जाना जाने लगा। बांग्ला संस्कृति में ज्ञान, विश्वास, कला, संगीत, नैतिकता, कानून, रीति–रिवाज, लोकगीत, लोकनृत्य और अन्य सभी निपुणताएँ आदतें समाहित हैं। बांग्ला संस्कृति एक विशाल एवं महत्त्वपूर्ण व्यवहार है। यह मानव जीवन की ऐसी प्रक्रिया है, जिसके विभिन्न तत्त्व एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के आदान–प्रदान के जरिए प्राप्त होते हैं। बाँग्ला संस्कृति बाँग्ला रचनाकारों की रचनात्मकता का एक अमूल्य खजाना है।

3150, सेक्टर 24–डी,
चंडीगढ़–160023 मो. 9876301085

सूर्य प्रकाश मिश्र
बसन्त कटरा (गाँधी चौक)
खोजवा ,दुर्गाकुण्ड, वाराणसी
मोबाइल 09839888743

गीत

सनई के फूल

खुल गई गाँठ फिर से धागे की
बात कितनी हुई गरम जाने

फूल सनई के उड़ के आये हैं
मेड़ की घास से गले मिलने
सोच में पड़ गया है बेचारा
आज से राज कह दिया कल ने

टूट जायेंगे या कड़े होंगे
इस हरे खेत के नियम जाने

कितने पौधों ने ध्यान से देखा
कैसी लगती है घास की क्यारी
अपनी किस्मत के रूठ जाने पर
खूब रोई चहारदीवारी

एक किस्सा तलाशने निकला
कौन तोड़ेगा फिर कसम जाने

रो उठा फिर से घाट का पत्थर
कितने जल का बहाव देखा है
भर उठा आह दर्द से पीपल
जिसने लमहों का घाव देखा है

कुछ हैं छोटे तो कुछ बड़े पौधे
चल रहा कब से ये भरम जाने

कविता

सच्चाई की रात

हो जितनी भी बड़ी मुसीबत
मिल कर सारा गाँव लड़ेगा
मुखिया जी ने लिया फैसला
कोई भूखा नहीं मरेगा

सबने काम किया मिल जुल कर
नाली सड़कें साफ कर दिया
शिकवे गिले बहुत थे लेकिन
सबने सबको माफ कर दिया

तय हो गया दुधारू भी अब
डांगर के ही साथ चरेगा

जात पात के ऊँच नीच के
सब बँटवारे खतम हो गये

गाँव हो गया पहले जैसा
ऐब सभी के हजम हो गये

कुछ को मिला काम खेती में
कुछ ने लिया थाम मनरेगा

बहने लगी प्रेम की धारा
हर अड़चन चुपचाप धुल गई
तभी एक भूखे मच्छर ने
ऐसा काटा नींद खुल गई

सच्चाई की घनी रात में
सपना भला कहाँ ठहरेगा

कहानी

काका जी की कैरियाँ

हरि प्रकाश राही
जोधपुर, राजस्थान
मो. : 9414132483

मैंने जब काजीजी के पड़ोस में मकान खरीदा, तबतक काज़ीजी के बरामदे में लगा आम का पेड़ काफी ऊँचा उठ चुका था। मैं जब उनसे पहली बार मिलने गया, तो उन्होंने मेरी बड़ी आवभगत की, मुझे मेवों में पकी सिंवइया खिलाई, केसर–पिस्ता का दूध पिलाया एवं अपनी खूबसूरत बीवी, जो बहुत अदब से बात करती थी एवं पास ही किसी स्कूल में प्रधानाध्यापिका थी, से भी मिलवाया। उन्होंने मुझे यह भी बताया कि वे बिजली महकमे में काम करते हैं एवं उनका सरनेम काज़ी इसलिए है कि दस पीढ़ी पहले उनका कोई पुरखा शहरकाज़ी था। तबसे यही सरनेम चलता आ रहा है। अच्छा हुआ उन्होंने यह बात बता दी, वरना उनके दरवाजे के आगे लगी नेमप्लेट देखकर मैंने भी यही सोचा था कि यह कोई कचहरी का मुलाजिम है। मैंने जब कहा–आपके बच्चे किधर है?तो उन्होंने अपने दोनों बेटों को, जिसमें बड़ा इरफान जो तकरीबन बारह वर्ष एवं दूसरा सुहेल जो उससे दो– तीन वर्ष छोटा होगा, से भी ड्राईंगरूम में बुलवाकर मिलवाया। दोनों यहीं घर से दो–ढाई किलोमीटर दूर सुभाष पब्लिक स्कूल में पढ़ते थे।

मैं पहले ही परिचय में ताड़ गया कि काज़ीजी सीधे, सरल इंसान है, हालाँकि वे मेरी कद–काठी के ठीक विपरीत सींकचे, ढाई पसली इंसान थे जबकि मेरा शारीरिक सौष्ठव उनसे कहीं बेहतर था। मैं यहाँ स्थानीय यूनियन बैंक में वरिष्ठ प्रबंधक था। मेरे स्टॉफ के अनेक बाबू, जिन्हें मैं कभी अधिक काम देता तो कार्यालय से बाहर आकर मुझे मोटा, जल्लाद तक कहते थे। मेरे भी कम घुसपैठिये न थे, मुझे सब खबर लग जाती एवं मैं बाद में उनकी अच्छी चटनी बनाता। हम और काज़ीजी लगभग हमवय अर्थात् चालीस के आस–पास थे।

ब्रेकफास्ट कर मैं काजीजी के साथ बाहर बरामदे में आया तो उनका खूबसूरत बगीचा देखकर दंग रह गया। उनका बगीचा जिसमें ऑस्ट्रेलियन दूब लगी थी, जिसे शायद कुछ दिन पहले ही माली काटकर गया था, हरे रेशमी कालीन की तरह बिछा था। उनके गमले जिनमें अधिकांश गुलाब के पौधे लगे थे, करीने से दीवारों पर लगे थे। सभी गमले टेराकोटा रंग में रँगे थे। दीवाली अभी होकर गई थी एवं ठंढ़ बढ़ने के साथ इन पौधों में कमसिन कलियाँ चटकने लगी थीं। कुछ पौधों में फूल भी उग आए थे। बगीचे के दायें कोने में मेरे घर से गजभर ऊँची दीवार के दो फुट आगे आम का पेड़ लगा था, जो उतना ही सुन्दर लग रहा था, जैसे कोई किशोर वय का युवक लगता है। पेड़ को देखकर कोई भी कह सकता था कि इस पर अभी फल नहीं लगे हैं। उनके सड़क से लगे मुख्य दरवाजे की ओर तीन सीढ़ियाँ उतरकर आने से पहले मैं इस पेड़ की ओर मुड़ा। पेड़ पर एक कोयल का जोड़ा एवं कुछ पक्षी कूक रहे थे। सवेरे की ठंढ एवं पेड़ से छन–छनकर आती किरणों के आगोश में मानो पेड़ भी ठिठुर रहा था। मैंने आगे बढ़कर पूछा–

''ओह! यह कितना सुंदर पेड़ है। इस पर फल आए अथवा नहीं।''

''अभी तो नहीं आए हैं, पर कल ही माली कह रहा था–अगले साल से फल लगने प्रारंभ हो जाएँगे। अब तक तो बस इसकी सेवा की है। आधा पानी तो यही पी जाता है। गोबर, खाद और डालो।'' कहते–कहते काज़ीजी ने मेरी ओर ऐसे देखा, मानो कहना चाह रहे हो कि आप तो फल खाने के समय आए हैं, यहाँ पसीना बहाते इतने वर्ष हो गए।

''आम का पेड़ मेहनत बहुत माँगता है।'' मैने सुर मिलाया।

आप ठीक कहते हैं। आम के पेड़ को पालना सरल नहीं है। कई पेड़ तो फलते भी नहीं। उन्हें कीड़े अथवा मौसमी बीमारियाँ लग जाती हैं। उत्तर देते–देते काज़ीजी आगे आये एवं पेड़ पर इस तरह हाथ फेरने लगे, जैसे पिता अपने प्रिय पुत्र के सर पर हाथ फेरता है।

''आपने ठीक कहा–ऐसे पेड़ों को पालना टेढ़ी खीर है।'' मैं ऊपर शाखाओं की ओर देखते हुए बोला।

''गोयल साहब! मैंने इसे बच्चे की तरह पाला है। जैसे मेरा बच्चा बीमार पड़ता है, तो मैं तुरंत डाक्टर के पास जाता हूँ, वैसे ही इसे भी मेरे एक मित्र अनवर साहब यहीं यूनिवर्सिटी में वनस्पति विभाग में प्रोफेसर हैं, देखते रहते हैं। वे अक्सर मुझसे मिलने आते हैं। इस पेड़ पर मैंने स्वयं अनेक बार दवाई छिड़की है। माली भी देखता रहता है। इसकी टहनियाँ इधर–उधर झुकती रहती हैं। पहले दो–तीन बार ट्रिमिंग भी करवाई है।'' यह कहते हुए काज़ीजी के चेहरे पर एक ऐसी खुशी छलक आई, जैसे मुझे पिछली बार मेरे बच्चे की परीक्षा में अव्वल आने पर हुई थी।

''ओह ग्रेट! मैं भी ठीक समय आया हूँ। अब तो शीघ्र ही इसके फल खाने को मिलेंगे।'' मैंने हँसकर बात बढ़ाई।

''देखते हैं।'' इस अजीब उत्तर के साथ काज़ीजी मूँछों में मुस्कुराने लगे। उनका यह अस्पष्ट उत्तर कुछ इस तरह था मानो वे कह रहे हो कि बरखुरदार! अभी तो आये हो और आते ही धौंस जमाने लग गए।

इंसान भी कितना विचित्र है। जिसे प्यार करता है, उसपर कितना अधिकार बना लेता है। खैर! कुल मिलाकर आज की मुलाकात बढ़िया रही। काज़ीजी एवं उनके परिवार विशेषत: आम के पेड़ ने मुझे बहुत प्रभावित किया।

धीरे–धीरे काज़ीजी से मेरी मुलाकातें बढ़ने लगी। हालाँकि उनके और मेरे परिवेश में अंतर था। मैं ठहरा महाजन, हमारे यहाँ मांसाहार तो क्या, अण्डा खाना तक वर्जित था, हालाँकि मुझे आशंका थी—बच्चे कभी कभार बाहर मित्रों के साथ मांसाहार लेते हैं। काज़ीजी की रसोई से अनेक बार मांस पकने की ऐसी बढ़िया खुशबू आती कि मैं अक्सर चारू से कहता–यार! इनके मसालों से क्या खुशबू आती है! अपना वेजिटेरियन तो मानो घास–फूस खाते हैं। तब वो मुझे इस तरह तीखी आँखों से देखती, जिसके अनेक अर्थों में एक अर्थ यह भी होता है कि यहाँ मांस खाना तो दूर, सोचना तक अपराध है। मैं चुप होकर रह जाता।

काज़ीजी औसत कद के सीधे–साधे इंसान थे। सर पर घने बाल एवं ऊँची ललाट थी। उनकी निर्मल आँखें उनके सज्जन होने की गवाही देती। कभी–कभी उनके बालों से एक लट उनकी ललाट पर गिरती, जिसे वे तुरंत झटके से गर्दन घुमाकर ऊपर कर लेते। ऐसा करना उनकी आदत में शुमार था। मुझे उनकी यह अदा मनभावन लगती। मैंने नॉनवेज खानेवाला ऐसा पतला इंसान पहले कभी नहीं देखा। मैंने मेरे मित्रों से यह भी सुना कि नॉनवेज खानेवाले अधिकांश लोगों का खून गरम होता है एवं वे जल्दी क्रोध में आते हैं, पर काज़ीजी इन सभी अनुसंधानों को झुठलाते हुए एकदम शांत, सौम्य व्यक्ति थे। वरन मैं स्वभाव में उनसे उलटे गरम, क्रोधी था एवं जल्दी तैश में आता। कॉलोनी के छोटे–मोटे झगड़े जिसमें हमारे घर के बाहर क्रिकेट खेलनेवाले बच्चों की ऐसी–तैसी करना भी था, जैसी बातों में मैं सदैव आगे होता, लेकिन काज़ीजी इन सबसे दूर रहते, वरन कई बार बॉल उनके घर आकर गिरते, तो वे खुद बाहर तक देने आते, जबकि मैं बच्चों से मन्नतें करवाता। काज़ीजी का एक और खास गुण यह भी था कि चुस्त, दुरुस्त एवं यह गुण चूँकि मैं नित्य

कसरत करता मुझमें भी कम न था।

दोनों सुबह जल्दी उठते, साथ–साथ बगीचा सींचते एवं इसी दरम्यान काज़ीजी से गुफ्तगू होती। समय जाते क्या देर लगती है। इस घर में आये अब मुझे छः मास से ऊपर होने को आए इसी बीच एक हसीन हादसा हुआ। आम के पेड़ की दायीं बड़ी शाखा अप्रत्याशित रूप से मेरे घर की ओर झुक गई। इसके साथ ही पेड़ का मुख्य हिस्सा मेरी दीवार की ओर मुड़ गया। मैंने एक बार काज़ीजी को ध्यान दिलाया, तो उन्होंने ऊपर देखा, फिर हँसकर बोले, ''यह काफिर खाता मेरा माल है, फल आपको देगा।'' मैं ठठाकर हँस पड़ा।

''नहीं, ऐसा नहीं है, वस्तुतः आपका पेड़ संगीतप्रेमी है। उसको शायद सुबह–सुबह मेरा गुनगुनाना बहुत पसंद है।'' मैं सुबह अक्सर बगीचे में पानी देते हुए फिल्मी गीत गुनगुनाता था।

''यह बात बिल्कुल सही है। आपका कण्ठ बहुत सुरीला है। तभी आम के पेड़ पर बैठी एक कोयल इस तरह कूजी, मानो वो काज़ीजी की बात पर मुहर लगा रही हो।

काज़ीजी कुछ हद तक सही थे, मैं नामची गवैया तो नहीं था, पर इतना चलताऊ अवश्य था कि छोटी–बड़ी गोष्ठियों में बाजी मार लेता। मेरा रियाज बहुधा बाथरूम में नहाते समय होता, तब मैं ढोलक के स्थान पर बाल्टी प्रयुक्त करता।

इस बार सीजन में पेड़ कैरियों से लद गया। काज़ीजी की आँखें चमक उठीं। उनकी दशा ऐसी थी, जैसे वर्षों तपस्या के बाद किसी के पुत्र की नौकरी लगी हो एवं उसकी तनख्वाह बाप के पास आनेवाली हो।

मैं सुबह बगीचे में जाता, अक्सर कुछ कैरियाँ पड़ी मिलतीं। मैं काज़ीजी से आँख चुराकर इन्हें चुपचाप उठाता एवं भीतर रख आता। श्रीमतीजी इन्हें पाकर खिल उठती। घर में इन दिनों अक्सर कैरीपाक, अचार, कैरी का रस आदि बनता, जो पूरे परिवार की पसन्द होता। कभी–कभी काज़ीजी चोर आँखों से मुझे कैरियाँ उठाते देख भी लेते, पर मैं कौन–सा उस पतलू की परवाह करता। इतना तो उसे भी समझना चाहिए, कैरियाँ जिस घर में गिरती हैं, उसी की होती है। काज़ीजी मुझे देखते एवं मुस्कुराकर रह जाते। इस मुस्कुराहट के अनेक अर्थ होते। मैं समझते हुए भी ऐसे बनता, जैसे मैं इससे निष्प्रभावित हूँ।

आज सुबह मौसम सुहाना था। रोज की तरह हम दोनों बगीचे में पानी दे रहे थे। काज़ीजी हमारी संयुक्त दीवार पर रखे पौधों पर पानी देने आए, तो मैंने ऊपर देखकर कहा–''अब तो खूब केरियाँ लग गई हैं।'' मुझे नहीं पता, ऐसा कहकर में उनका ध्यान बँटाना चाहता था अथवा मेरा अपराधबोध छिपाना चाहता था कि ये कैरियाँ अब हमारे घर भी पहुँचने लगी हैं।

''ठीक कह रहे हैं आप! कैरिया खूब लगी हैं। आठ–दस दिन और देखता हूँ, फिर माली को बुलवाकर उतरवाता हूँ। कॉलोनी के बच्चे भी इन पर पत्थर मारते रहते हैं।'' कहते–कहते काज़ीजी ने मेरी ओर इस तरह देखा, मानो कह रहे हों–आप कौन–से कम हैं। ''काजीजी! कैरियों में हमारा हिस्सा तो होगा ही।'' मैंने मुस्कुराते हुए अधिकार जताया।

''क्यों भाई! खाद–बीज हम दें और कैरियाँ तुम लो।'' मुस्कुरा वे भी रहे थे, पर उनकी मुस्कुराहट अप्रकट थी। मुझमें यह कला न थी।

''आप देखिए, आधा पेड़ तो हमारी ओर झुका है। पेड़ पर बैठे पक्षी दिन भर हमारा घर गन्दा करते हैं। सफाई कर–करके थक जाते हैं।'' मैंने उन्हें जान–बूझकर छेड़ा। उन्हें यूँ छेड़ना मेरी आदत का हिस्सा था एवं काजीजी इसे अच्छी तरह जानते थे।

''छाया भी तो आप ही को देता है। कहते हुए काजीजी दबे होठों में मुस्कुराए, फिर किंचित गंभीर होकर मेरी तरफ देखा, जिसका सीधा अर्थ था–बरखुरदार! फलों पर ज्यादा नजर नहीं रखना। अब जल्दी ही कैरियाँ उतरवाता हूँ। आप जैसा पड़ोसी हो, तो सावधानी लाज़मी है।

हमारे उनके मध्य ऐसे मनोविनोद होते रहते। छः माह में हमारा रिश्ता अत्यन्त प्रगाढ़ हो चुका था। काज़ीजी के बच्चे मेरे बच्चों के हमवय थे, अक्सर मिलते रहते। औरतें आपस में खास वेजिटेरियन डिशेज का आदान–प्रदान करती रहती। मेरे बच्चे तमाम विरोध के बावजूद नॉनवेज पसंद करते एवं उन्हें यह गुप्त तृप्ति काज़ीजी की रसोई से मिली छः माह में हम दोनों का परिवार इस तरह घुलमिल गया, जैसे हम पूर्वजन्म के दो भाई हों। इसी बीच एक दिलचस्प वाकया हुआ रात के दस बजे होंगे में और काज़ीजी डिनर कर रोज की तरह बरामदे में टहल रहे थे। एकाएक तेज हवाएँ चली एवं कुछ ही देर में बवंडर की तरह तूफानी हवा उठी। स्थानीय भाषा में लोग ऐसी आँधी को 'बतूलिया' कहते हैं। मारवाड़ में ऐसे बतूलिये आते रहते हैं। लेकिन यह क्या, देखते–देखते कैरियाँ टप–टप गिरने लगीं, हमारा बरामदा कैरियों से भर गया। जैसे क्रिकेट के अंतिम आवर में अनेक बार भाग्य की अहम् भूमिका बन जाती है, बतूलिये का रुख हमारे घर की ओर था। बतूलिया काज़ीजी के घर से हमारी ओर तेज गति से चल रहा था। पूरा बरामदा कैरियों से भर गया उस रात मेरी तरफ पेड़ वाले हिस्से की कैरियां तो हमारे बरामदे में गिरी ही, काज़ीजी की तरफवाले पेड़ की भी अधिकांश कैरियाँ हवा के फोर्स के साथ हमारे बरामदे में आ गिरीं। यह अद्‌भुत, आनंदपूर्ण घर बैठे गंगा आने जैसा दृश्य था। हमने थैले भर–भर कर कैरियाँ भीतर की। काज़ीजी इस वीभत्स दर्दनाक दृश्य को अपने बरामदे में खड़े देख रहे थे। उनकी पुतलियों का रंग बदल गया। मायूस, उन्होंने अपने बरामदे में रखी कुछ कैरियां उठाई एवं भीतर चले गए। दूसरे दिन सुबह बगीचे में पानी देते हुए मैंने काज़ीजी को नमस्ते किया, तो मेरी आँखों में शरारत नाच रही थी। काज़ीजी विचित्र आँखों से कभी मुझे, तो कभी अपने बेवफा पेड़ को देखते थे। तभी श्रीमतीजी दो कैरियों से भरी थैलियाँ लेकर आई एवं काज़ीजी की ओर बढ़ाते हुए बोली–'भाई साहब! कैरियाँ कल इधर गिर गई थीं। मैंने चार–पाँच रख ली है। काजीजी ने दोनों थैलियाँ पकड़ी, तो उनकी आँखों की चमक बढ़ गई। क्षणभर में बना खेल बिगाड़ने की कूवत औरतों में ही होती है। मेरी हालत ऐसी थी मानो टायर पंक्चर हो गया हो, पर अब क्या किया जा सकता था।

इस बात को भी छः माह होने को आए काज़ीजी एवं मेरे बीच नित्य मीठी नोकझोंक चलती रहती। हमारे पारिवारिक संबंध अब और दृढ़तर हो चले थे। मुझे उनकी मित्रता सगुण–निर्गुण भक्ति का दिलफरेब मेल लगती।

दिन–महीने यूँ ही बीतने लगे। कैरियों का मौसम फिर आया। आज सुबह अखबार देखा, तो एक खबर पढ़कर तड़प उठा। बीती रात शहर के मुख्य बाजार में गाय के एक कटे सिर को लेकर दंगा हुआ था। हिंदू कह रहे थे–यह मुसलमानों का कार्य है, मुसलमान उन सियासतदानों को कोस रहे थे, जो आगत चुनाव में इस मुद्दे के अंगारों पर चुनावी रोटियां सेंकना चाह रहे थे। इस खबर से शहरभर के लोग सावधान हो गए। फिजाओं में जहर घुल गया। लोग रात को जल्दी घर आने लगे, सड़कें वीरान हो गईं। मौहल्ले, बाजारों में सन्नाटे पसर गए।

दूसरे दिन स्कूल जाते हुए दो हिन्दू बच्चों पर किसी ने तलवार से वार किये, बच्चे लहूलुहान हो गए। इस घटना से माहौल और बिगड़ गया। आग से आग भड़कती है। घृणा खरपतवार तरह फैलती है। अब हिन्दू संगठनों ने प्रतिहमले की धमकी दी थी। मैंने एवं काज़ीजी दोनों ने बच्चों को सँभलकर स्कूल जाने की हिदायत दी। जाने कब, कैसा हादसा हो जाए?

इस बात को भी दस दिन होने को आये। माहौल अब पहले से शांत होने लगा था। शहर की रोजमर्रा जिंदगी भी सामान्य होने लगी थी। प्रशासन ने

तीन दिन पूर्व दोनों पक्षों को बुलाकर समझौता करवाया था। यह उसी का प्रभाव था अथवा अल्लाह की मेहर आम आदमी अब सुकून में आने लगा था। कुछ
लोग यह भी कह रहे थे कि अंगारे बुझ गए हैं, लेकिन चिंगारियाँ अब भी राख में दबी है। यही बातें आम आदमी के दिल में आशंका पैदा करती।

आज सुबह दूध लेने गया, तो दुकान के पास ही काज़ीजी के दोनों बच्चे बैग लिये स्कूल जाने को खड़े थे। मुझे देखकर दोनों ने गुडमॉर्निंग कहा। मैंने मुस्कुराते हुए दोनों के सर पर हाथ फेरा एवं दुकान की ओर बढ़ गया। मैं दुकान पहुँचा ही था कि एकाएक तेज शोरगुल सुनकर पीछे मुड़ा, तो एक दृश्य देखकर हैरान रह गया। वर्षा ऋतु में एकाएक उमड़ आये काले बादलों की तरह अचानक दो युवक सिर एवं मुँह पर कपड़े का डाटा बाँधे हाथ में तलवार लिये इरफान एवं सुहेल की तरफ बढ़ रहे थे। मैं तुरत स्थिति समझ गया। आगे बढ़नेवालों का गंतव्य स्पष्ट था। तलवारबाजी के पैतरे मैंने भी जवानी में एक अखाड़े में सीखे थे, लेकिन मैं निहत्था था। में दौड़कर बच्चों के पास आया। बच्चे भय के मारे काँपने लगे। मुझमें भी न जाने इतना साहस कहाँ से आ गया। यह करो या मरो वाली स्थिति थी। मैंने एक आदमी की कलाई पकड़कर उसके हाथ से तलवार छीनी एवं उसी की ओर तान दी। इसी झगड़े में उसके कपड़े का डाटा उतर गया। अरे! यह तो सुरेश था, जो मेरे पिछले घर में नौकर था। वह तो एक होनहार, समझदार लड़का था। उसमें यह जुनून किसने भर दिया?आज मुझे समझ आया–धर्म की अफीम कितनी नशीली होती है, यह अच्छे अच्छों को विचारों से अंधा कर देती है।

''यह क्या कर रहे हो ऽऽऽ.सुरेश?'' मैं जोर से बोला। मेरी आँखों में भवानी उतर आई थी।

''सर! आप बीच में न आएँ। आप उन दो बच्चों के बारे में नहीं जानते, जिन्हें मुसलमानों ने लहूलुहान किया है। खून का बदला खून से लेने से ही इन्हें अकल आएगी। उन्होंने हम पर रहम नहीं किया, तो हम क्यों करें?'' सुरेश मरने–मारने पर उतारू था।

''तुम क्या समझते हो, ऐसा करने से आगे खूनखराबा रुक जाएगा?तुम आज दो पर वार करोगे, कल वे चार पर करेंगे, फिर तुम बदला लोगे। आखिर यह सिलसिला कहाँ रुकेगा?'' भयभीत इरफान एवं सुहेल दोनों मुझसे चिपक गए थे।

तभी सुरेश का मित्र तलवार लेकर बच्चों की ओर बढ़ा, मैंने बचाव किया सामनेवाला जवान था, उसके बाजुओं में दम था, मैंने बच्चों को इशारा किया, तो दोनों दौड़कर दूधवाले की दुकान पर आ गए।

''काट दे साले को, गद्दारों को पहले काटो।'' सुरेश जोर से चीखा। उसने कोई लिहाज नहीं किया।

दूसरा आगे बढ़ता, तभी तेज गति से वहाँ पुलिस की एक जीप आयी। गाड़ी देखते ही दोनों को साँप सूंघ गया। दोनों पलक झपकते छूमंतर हो गये। शायद वहाँ खड़े लोगों में से किसी ने पुलिस को फोन कर दिया था। इंस्पेक्टर ने नीचे उतरकर मेरे कंधे पर हाथ रखा–''सर! आप जैसे सभी हो जाएँ, तो दुनिया से नफरत मिट जाए। हमें आपपर गर्व है।''

दूसरे दिन बगीचे में काज़ीजी मिले, तो उनकी आँखें उपकार से लबालब थी, तभी दो कैरियाँ पेड़ से उनके बरामदे में गिरी। उन्होंने इन कैरियों को उठाया एवं मेरे हाथ में रखते हुए बोले–''आपका उपकार कभी नहीं भूलूँगा।'' "मुझे क्यों दे रहे हो?कैरियाँ गिरी तो आपके उधर हैं।'' मैंने हमेशा की तरह छेड़ते हुए चुस्त किया। ''अब यह पूरा पेड़ आपका है।'' कहते–कहते

कविता

डॉ मंजरी पाण्डेय

होठों पर अब गान नहीं है
अधरों पर मुस्कान नहीं है।
साया खौफ का रहता साथ
अपना कोई मकान नहीं है।

बचपन दिखाई देता नहीं
अंतर्जाल मे खोया कहीं ।
जीवनशैली बदली वहीं है
साथ बैठे पहचान नही है ।।

अर्थ में लिपटी अर्थहीन
जिंदगी लगती है रंगीन।
दिनभर धमाचौकड़ी कहां
इसका कोई स्थान नही है।।

बचपन के सब खेल कहां
अब न दिखाई देते हैं यहां।
विष–अमृत ,कंचे गुलेल
कितने नाम ध्यान नही है ।।

मोबाइल बच्चे की दुनिया
मां की ममता को है छीना ।
बड़े बूढ़े कहानियां भूले
याद उन्हे भगवान नहीं है ।।

खटिया,मचिया घर की खाट
सब टटिया और वो टाट।
कलम,दवात,खड़िया कहां
टीके के अब निशान नही हैं।।

विद्युत की झालर का भ्रम
कहीं पर पड़े होते हैं बम ।
चांद सितारे तक तक हारे
चंदा मामा का मान नही है।।

बच्चों का कोई दोष नहीं
राह हमने बनाई है यही।
जन्म से दूर सुलाया उन्हें
अपनेपन का भान नहीं है।।

दूर हुआ तो दूर हुआ
इसका उसका संग हुआ।
काटे मारे चाहे कोई भी
संग अपने रूझान नहीं हैं ।।

चेतो बच्चे फिर से पालो
वीर देश की गाथा गा लो।
बच्ची बच्ची मनु होवे जो
बच्चा कोई शैतान नहीं है।।

देश का गौरव गान सुनाओ
बच्चे को भ्वान बनाओ।
मंजरी को है विश्वास दूजा
देश कोई हिन्दुस्तान नहीं है।।

सुसंभाव्य
प्रकाशन

कार्यालय
भवानी कॉम्पलेक्स, पटल बाबू रोड
गुरुद्वारा गली के सामने, भागलपुर (बिहार)
Mob.: 9931240303